# कबीर-दोहे

1

## 1 : गुरुदेव का अंग

---------------------

राम–नाम कै पटंतरै, देबे कौ कछु नाहिं |
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माहिं ||1||
भावार्थ – सद्गुरु ने मुझे राम का नाम पकडा दिया है | मेरे पास ऐसा क्या है उस
सममोल का, जो गुरु को दूँ ?क्या लेकर सन्तोष करूँ उनका ?
मन की अभिलाषा मन में ही रह गयी कि, क्या दक्षिणा चढाऊँ ?
वैसी वस्तु कहाँ से लाऊँ ?
सतगुरु लई कमांण करि, बाहण लागा तीर |
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या शरीर ||2||
भावार्थ – सदगुरु ने कमान हाथ में ले ली, और शब्द के तीर वे लगे चलाने |
एक तीर तो बडी प्रीति से ऐसा चला दिया लक्ष्य बनाकर कि,
मेरे भीतर ही वह बिंध गया, बाहर निकलने का नहीं अब |
सतगुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार |
लोचन अनंत उघाडिया, अनंत–दिखावणहार ||3||
भावार्थ – अन्त नहीं सद्गुरु की महिमा का, और अन्त नहीं उनके किये उपकारों का ,
मेरे अनन्त लोचन खोल दिये, जिनसे निरन्तर मैं अनन्त को देख रहा हूँ |

2

बलिहारी गुर आपणैं, द्यौंहाडी कै बार |
जिनि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ||4||
भावार्थ – हर दिन कितनी बार न्यौछावर करूँ अपने आपको सद्गुरू पर,
जिन्होंने एक पल में ही मुझे मनुष्य से परमदेवता बना दिया,
और तदाकार हो गया मैं |

गुरु गोविन्द दोऊ खडे, काके लागूं पायं |
बलिहारी गुरु आपणे, जिन गोविन्द दिया दिखाय ||5||
भावार्थ – गुरु और गोविन्द दोनों ही सामने खडे हैं , दुविधा में पड गया हूँ कि
किसके पैर पकडूं ॐ
सद्गुरु पर न्यौछावर होता हूं कि, जिसने गोविन्द को सामने खडाकर दिया,
गोविनद से मिला दिया |
ना गुर मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव |
दुन्यूं बूडे धार मैं, चढि पाथर की नाव ||6||

भावार्थ – लालच का दाँव दोनों पर चल गया , न तो सच्चा गुरु मिला और न शिष्य ही जिज्ञासु बन पाया | पत्थर की नाव पर चढकर दोनों ही मझधार में डूब गये |

3

पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि |
आगैं थैं सतगुर मिल्या, दीपक दीया हाथि ||7||

भावार्थ – मैं भी औरों की ही तरह भटक रहा था, लोक–वेद की गलियों में | मार्ग में गुरु मिल गये सामने आते हुए और ज्ञान का दीपक पकडा दिया मेरे हाथ में | इस उजेले में भटकना अब कैसा ?

`कबीर' सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीष |
स्वांग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगे भीष ||8||

भावार्थ – कबीर कहते हैं –उनकी सीख अधूरी ही रह गयी कि जिन्हें सद्गुरु नहीं मिला | सन्यासी का स्वांग रचकर, भेष बनाकर घर–घर भीख ही माँगते फिरते हैं वे |

सतगुरु हम सूं रीझि करि, एक कह्या परसंग |
बरस्या बादल प्रेम का, भींजि गया सब अंग ||9||

भावार्थ – एक दिन सद्गुरु हम पर ऐसे रीझे कि एक प्रसंग कह डाला, रस से भरा हुआ | और, प्रेम का बादल बरस उठा, अंग–अंग भीग गया उस वर्षा में |

4

यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान |
सीस दिये जो गुर मिलै, तो भी सस्ता जान ||10||

भावार्थ – यह शरीर तो बिष की लता है, बिषफल ही फलेंगे इसमें |
और, गुरु तो अमृत की खान है |
सिर चढा देने पर भी सद्गुरु से भेंट हो जाय, तो भी यह सौदा सस्ता ही है |

5

## 2 : : सुमिरण का अंग

---

भगति भजन हरि नांव है, दूजा दुक्ख अपार |
मनसा बाचा क्रमनां, `कबीर' सुमिरण सार ||1||

भावार्थ – हरि का नाम–स्मरण ही भक्ति है और वही भजन सच्चा है ल भक्ति के नाम पर सारी साधनाएं केवल दिखावा है, और अपार दुःख की हेतु भी |
पर स्मरण वह होना चाहिए मन से, बचन से और कर्म से,
और यही नाम–स्मरण का सार है ॐ

`कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोई |
राम करें भल होइगा, नहितर भला न होई ||2||

भावार्थ – मैं हमेशा कहता हूँ, रट लगाये रहता हूँ, सब लोग सुनते भी रहते हैं –
यही कि राम का स्मरण करने से ही भला होगा, नहीं तो कभी भला होनेवाला नहीं |

पर राम का स्मरण ऐसा कि वह रोम–रोम में रम जाय |
तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ |
वारी फेरी बलि गई ,जित देखौं तित तूं ||3||
भावार्थ – तू, ही है, तू ही है' यह करते–करते मैं तू ही हो गयी,



`हूँ' मुझमें कहीं भी नहीं रह गयी |
उसपर न्यौछावर होते–होते मैं समर्पित हो गयी हूँ |
जिधर भी नजर जाती है उधर तू–ही–तू दीख रहा है |
`कबीर' सूता क्या करै, काहे न देखै जागि |
जाको संग तैं बीछुड्या, ताही के संग लागि ||4||
भावार्थ – कबीर अपने आपको चेता रहे हैं, अच्छा हो कि दूसरे भी चेत जायं |
अरे, सोया हुआ तू क्या कर रहा है ? जाग जा और अपने साथियों को देख, जो जाग गये हैं |
यात्रा लम्बी है, जिनका साथ बिछड गया है और तू पिछड गया है, उनके साथ तू फिर लग जा |
जिहि घटि प्रीति न प्रेम–रस, फुनि रसना नहीं राम |
ते नर इस संसार में, उपजि खये बेकाम ||5||
भावार्थ – जिस घट में, जिसके अन्तर में न तो प्रीति है और न प्रेम का रस |
और जिसकी रसना पर रामनाम भी नहीं – इस दुनिया में बेकार ही पैदा हुआ वह और बरबाद हो गया |



`कबीर' प्रेम न चषिया, चषि न लीया साव |
सूने घर का पाहुंणां , ज्यूं आया त्यूं जाव ||6||
भावार्थ – कबीर धिक्कारते हुए कहते हैं – जिसने प्रेम का रस नहीं चखा,
और चखकर उसका स्वाद नहीं लिया, उसे क्या कहा जाय ?
वह तो सूने घर का मेहमान है, जैसे आया था वैसे ही चला गया ॐ
राम पियारा छांडि करि, करै आन का जाप |
बेस्यां केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सू बाप ||7||
भावार्थ – प्रियतम राम को छोडकर जो दूसरे देवी–देवताओं को जपता है,
उनकी आराधना करता है, उसे क्या कहा जाय ?
वेश्या का पुत्र किसे अपना बाप कहे ? अनन्यता के बिना कोई गति नहीं |
लूटि सकै तौ लूटियौ, राम–नाम है लूटि |
पीछैं हो पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि ||8||
भावार्थ – अगर लूट सको तो लूट लो, जी भर लूटो––यह राम नाम की लूट है |
न लूटोगे तो बुरी तरह पछताओगे, क्योंकि तब यह तन छूट जायगा |

लंबा मारग, दूरि घर, विकट पंथ, बहु मार |
कहौ संतो, क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि—दीदार || 9||
भावार्थ — रास्ता लम्बा है, और वह घर दूर है, जहाँ कि पहुँचना है | लम्बा ही नहीं,
उबड—खाबड भी है | कितने ही बटमार वहाँ पीछे लग जाते हैं |
संत भाइयों, बताओ तो कि हरि का वह दुर्लभ दीदार तब कैसे मिल सकता है ?
`कबीर' राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ |
फूटा नग ज्यूँ जोडि मन, संधे संधि मिलाइ ||10||
भावार्थ — कबीर कहते हैं— अमृत—जैसे गुणों को गाकर तू अपने राम को रिझा ले |
राम से तेरा मन—बिछुड गया है, उससे वैसे ही मिल जा ,
जैसे कोई फूटा हुआ नग सन्धि—से—सन्धि मिलाकर एक कर लिया जाता है |



## 3 : : विरह का अंग

-------------------------

अंदेसडा न भाजिसी, संदेसौ कहियां |
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पास गयां ||1||
भावार्थ — संदेसा भेजते—भेजते मेरा अंदेशा जाने का नहीं,
अन्तर की कसक दूर होने की नहीं,
यह कि प्रियतम मिलेगा या नहीं, और कब मिलेगाल्ह हाँ यह अंदेशा दूर हो सकता है
दो तरह से — या तो हरि स्वयं आजायं, या मैं किसी तरह हरि के पास पहुँच जाऊँ
यहु तन जालों मसि करों, लिखों राम का नाउं |
लेखणि करूं करंक की, लिखि—लिखि राम पठाउं ||2||
भावार्थ — इस तन को जलाकर स्याही बना लूँगी, और जो कंकाल रह जायगा,
उसकी लेखनी तैयार कर लूँगी |
उससे प्रेम की पाती लिख—लिखकर अपने प्यारे राम को भेजती रहूँगी |
ऐसे होंगे वे मेरे संदेसे |
बिरह—भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ |
राम—बियोग ना जिबै जिवै तो बौरा होइ ||3||
भावार्थ — बिरह का यह भुजंग अंतर में बस रहा है, डसता ही रहता है सदा,



कोई भी मंत्र काम नहीं देता | राम का वियोगी जीवित नहीं रहता , और जीवित रह
भी जाय तो वह बावला हो जाता है |
सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त |
और न कोई सुणि सकै, कै साई के चित्त ||4||
भावार्थ — शरीर यह रबाब सरोद बन गया है —एक—एक नस तांत हो गयी है |
और बजानेवाला कौन है इसका ? वही विरह,
इसे या तो वह साई सुनता है, या फिर बिरह में डूबा हुआल्ह यह चित्त |
अंषडियां झाई पडीं, पंथ निहारि—निहारि |

जीभड़ियाँ छाला पड़्या, राम पुकारि-पुकारि ||5||
भावार्थ - बाट जोहते-जोहते आंखों में झाई पड गई हैं,
राम को पुकारते-पुकारते जीभ में छाले पड गये हैं।

[ पुकार यह आर्त्त न होकर विरह के कारण तप्त हो गयी है..और इसीलिए जीभ पर छाले पड गये हैं |]
इस तन का दीवा करौ, बाती मेल्यूं जीव |
लोही सींची तेल ज्यूं, कब मुख देखौं पीव ||6||
भावार्थ - इस तन का दीया बना लूं, जिसमें प्राणों की बत्ती हो ॐ

11

और, तेल की जगह तिल-तिल बलता रहे रक्त का एक-एक कण |
कितना अच्छा कि उस दीये में प्रियतम का मुखडा कभी दिखायी दे जाय |
`कबीर' हँसणां दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त |
बिन रोयां क्यूं पाइए, प्रेम पियारा मित्त ||7||
भावार्थ - कबीर कहते हैं -
वह प्यारा मित्र बिन रोये कैसे किसीको मिल सकता है ?
[रोने-रोने में अन्तर है | दुनिया को किसी चीज के लिए रोना, जो नहीं मिलती या मिलने पर खो जाती है, और राम के विरह का रोना, जो सुखदायक होता है|]
जौ रोऊँ तौ बल घटै, हँसौं तो राम रिसाइ |
मन ही माँहि बिसूरणा, ज्यूँ घुँण काठहि खाइ ||8||
भावार्थ - अगर रोता हूँ तो बल घट जाता है, विरह तब कैसे सहन होगा ?
और हँसता हूं तो मेरे राम रिसा जायंगे | तो न रोते बनता है और न हँसते|
मन-ही-मन बिसूरना ही अच्छा, जिससे सबकुछ खौखला हो जाय, जैसे काठ घुन

12

हांसी खेलौं हरि मिलै, कोण सहै षरसान |
काम क्रोध त्रिष्णां तजै, तोहि मिलै भगवान ||9||
भावार्थ - हँसी-खेल में ही हरि से मिलन हो जाय, तो कौन व्यथा की शान पर चढना चाहेगा
भगवान तो तभी मिलते हैं, जबकि काम, क्रोध और तृष्णा को त्याग दिया जाय |
पूत पियारौ पिता कौं, गौहनि लागो धाइ |
लोभ-मिठाई हाथि दे, आपण गयो भुलाइ ||10||
भावार्थ - पिता का प्यारा पुत्र दौडकर उसके पीछे लग गया |
हाथ में लोभ की मिठाई देदी पिता ने |
उस मिठाई में ही रम गया उसका मन |
अपने-आपको वह भूल गया, पिता का साथ छूट गया |
परबति परबति मैं फिर्या, नैन गँवाये रोइ |
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ ||11||
भावार्थ - एक पहाड से दूसरे पहाड पर मैं घूमता रहा, भटकता फिरा, रो-रोकर

आँखे भी गवां दीं ।
वह संजीवन बूटी कहीं नहीं मिल रही, जिससे कि जीवन यह जीवन बन जाय,
व्यर्थता बदल जाय सार्थकता में ।
सुखिया सब संसार है, खावै और सौवे ।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रौवे ।।12।।

13
भावार्थ – सारा ही संसार सुखी दीख रहा है, अपने आपमें मस्त है वह,

खूब खाता है और खूब सोता है ।
दुखिया तो यह कबीरदास है, जो आठों पहर जागता है और रोता ही रहता है ।
[धन्य है ऐसा जागना, ओर ऐसा रोना ॐकिस काम का, इसके आगे खूब खाना और खूब सोनाॐ]

जा कारणि में ढूँढती, सनमुख मिलिया आइ ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौ पाइ ।।13।।
भावार्थ – जीवात्मा कहती है –
जिस कारण मैं उसे इतने दिनों से ढूँढ रही थी,
वह सहज ही मिल गया, सामने ही तो था । पर उसके पैरों को कैसे पकडू ?
मैं तो मैली हूँ, और मेरा प्रियतम कितना उजला ॐ सो, संकोच हो रहा है ।
जब मैं था तब हरि नहीं , अब हरि हैं मैं नाहि ।
सब अंधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माहि ।।14।।
भावार्थ – जबतक यह मानता था कि'मैं हूं', तबतक मेरे सामने हरि नहीं थे ।
और अब हरि आ प्रगटे, तो मैं नहीं रहा ।
अँधेरा और उजेला एकसाथ, एक ही समय, कैसे रह सकते हैं ?
फिर वह दीपक तो अन्तर में ही था ।

14
देवल माहैं देहुरी, तिल जे है बिसतार ।
माहैं पाती माहि जल, माहैं पूजणहार ।।15।।
भावार्थ – मन्दिर के अन्दर ही देहरी है एक, विस्तार में तिल के मानिन्द ।
वहीं पर पत्ते और फूल चढाने को रखे हैं, और पूजनेवाला भी तो वहीं पर हैं ।
[अन्तरात्मा में ही मंदिर है, वहीं पर देवता है, वहीं पूजा की सामग्री है और
पुजारी भी वहीं मौजूद है ।]

15

## 4 : :जर्णा का अंग

----------------------

भारी कहौ तो बहु डरौ, हलका कहूं तौ झूठ ।

मैं का जाणौं राम कूं, नैनूं कबहूँ न दीठ ||1||
भावार्थ - अपने राम को मैं यदि भारी कहता हूँ, तो डर लगता है,
इसलिए कि कितना भारी है वह |
और, उसे हलका कहता हूँ तो यह झूठ होगा | मैं क्या जानूँ उसे कि वह कैसा है,
इन आँखों से तो उसे कभी देखा नहीं |सचमुच वह अनिर्वचनीय है,
वाणी की पहुँच नहीं उस तक |
दीठा है तो कस कहूँ, कह्या न को पतियाय |
हरि जैसा है तैसा रहो, तू हरषि-हरषि गुण गाइ ||12||
भावार्थ - उसे यदि देखा भी है, तो वर्णन कैसे करूँ उसका ?
वर्णन करता हूँ तो कौन विश्वास करेगा ? हरि जैसा है, वैसा है |
तू तो आनन्द में मग्न होकर उसके गुण गाता रह
वर्णन के ऊहापोह में मन को न पडने दे |

पहुँचेंगे तब कहैंगे ,उमडैंगे उस ठांइ |
अजहूँ बेरा समंद मैं, बोलि बिगूचैं कांइ ||3||

16
भावार्थ - जब उस ठौर पर पहुँच जायंगे, तब देखेंगे कि क्या कहना है,
अभी तो इतना ही कि वहाँ आनन्द-ही-आनन्द उमडेगा, और उसमें यह मन खूब खेलेगा|
जबकि बेडा बीच समुद्र में है, तब व्यर्थ बोल-बोलकर क्यों किसी को दुविधा
में डाला जाय कि - -उस पार हम पहुँच गये हैं ॐ

17

## 5 : : पतिव्रता का अंग

---------------------------

मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर |
तेरा तुझकौं सौंपता, क्या लागै है मोर ||1||
भावार्थ - मेरे साई, मुझमें मेरा तो कुछ भी नहीं,जो कुछ भी है, वह सब तेरा ही है|

तब,तेरी ही वस्तु तुझे सौंपते मेरा क्या लगता है, क्या आपत्ति हो सकती है मुझे ?
`कबीर' रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ |
नैनूं रमैया रमि रह्या, दूजा कहाँ समाइ ||2||
भावार्थ - कबीर कहते हैं -आँखों में काजल कैसे लगाया जाय,
जबकि उनमें सिन्दूर की जैसी रेख उभर आयी है ?मेरा रमैया नैनों में रम गया है,

उनमें अब किसी और को बसा लेने की ठौर नहीं रही|
[सिन्दूर की रेख से आशय है विरह-वेदना से रोते-रोते आँखें लाल हो गयी हैं|]
`कबीर' एक न जाण्यां, तो बहु जांण्या क्या होइ |

एक तैं सब होत है,   सब तैं एक न होइ ||3||

18

भावार्थ –  कबीर कहते हैं –

यदि उस एक को न जाना,   तो इन बहुतों को जानने से क्या हुआ ॐ

क्योंकि एक का ही तो यह सारा पसारा है,   अनेक से एक थोडे ही बना है |

जबलग भगति सकामता,   तबलग निर्फल सेव |
कहै`कबीर' वै क्यूं मिलैं,   निहकामी निज देव ||4||

भावार्थ –भक्ति जबतक सकाम है,   भगवान की सारी सेवा तबतक निष्फल ही है |

निष्कामी देव से सकामी साधक की भेंट कैसे हो सकती है ?

`कबीर' कलिजुग आइ करि,   कीये बहुत जो मीत |
जिन दिलबाँध्या एक सूं,   ते सुखु सोवै निचींत ||5||

भावार्थ –  कबीर कहते हैं ––

कलियुग में आकर हमने बहुतों को मित्र बना लिया,
क्योंकि ह्यनकलीह मित्रों की कोई कमी नहीं |
पर जिन्होंने अपने दिल को एक से ही बाँध लिया,
वे ही निश्चिन्त सुख की नींद सो सकते हैं |

`कबीर' कूता राम का,   मुतिया मेरा नाउं |
गले राम की जेवडी,   जित कैंचे तित जाउं ||6||

भावार्थ –  कबीर कहते हैं––मैं तो राम का कुत्ता हूँ,   और नाम मेरा मुतिया ह्यमोतीह है

19

गले में राम की जंजीर पडी हुई हैल उधर ही चला जाता हूँ जिधर वह ले जाता है|

[प्रेम के ऐसे बंधन में मौज–ही–मौज है |]

पतिबरता मैली भली,   काली,   कुचिल,   कुरूप |
पतिबरता के रूप पर,   बारौं कोटि स्वरूप ||7||

भावार्थ –  पतिव्रता मैली ही अच्छी,   काली मैली–फटी साडी पहने हुए और कुरूप |

तो भी उसके रूप पर मैं करोंडों सुन्दरियों को न्यौछावर कर देता हूँ |

पतिबरता मैली भली,   गले काँच को पोत |
सब सखियन में यों दिपै ,   ज्यों रवि ससि की जोत ||8||

भावार्थ –  पतिव्रता मैली ही अच्छी,   जिसने सुहाग के नाम पर काँच के कुछ गुरिये पहन रखे हैं |

फिर भी अपनी सखी–सहेलियों के बीच वह ऐसी दिप रही है,
जैसे आकाश में सूर्य और चन्द्र की ज्योति जगमगा रही हो |

20

## 6 :  :कामी का अंग

––––––––––––––––––––––––––

परनारी राता फिरैं,  चोरी बिढिता खाहिं |
दिवस चारि सरसा रहै,  अंति समूला जाहिं ||1||
भावार्थ – परनारी से जो प्रीति जोडते हैं और चोरी की कमाई खाते हैं,
भले ही वे चार दिन फूले–फूले फिरें |किन्तु अन्त में वे जडमूल से नष्ट
हो जाते हैं |
परनारि का राचणौ,  जिसी लहसण की खानि |
खूणैं बैसि र खाइए,  परगट होइ दिवानि ||2||
भावार्थ – परनारी का साथ लहसुन खाने के जैसा है,
भले ही कोई किसी कोने में छिपकर खाये,  वह अपनी बास से प्रकट हो जाता है |
भगति बिगाडी कामियाँ,  इन्द्री कैरै स्वादि |
हीरा खोया हाथ थैं,  जनम गँवाया बादि ||3||
भक्ति को कामी लोगों ने बिगाड डाला है,  इन्द्रियों के स्वाद में पडकर,
और हाथ से हीरा गिरा दिया,  गँवा दिया |  जन्म लेना बेकार ही रहा उनका |
कामी अमी न भावई,  विष ही कौं लै सोधि |
कुबुद्धि न जाई जीव की,  भावै स्यंभ रहौ प्रमोधि ||4||

21

भावार्थ – कामी मनुष्य को अमृत पसंद नहीं आता,  वह तो जगह–जगह विष को
ही खोजता रहता है |
कामी जीव की कुबुद्धि जाती नहीं,  चाहे स्वयं शम्भु भगवान् ही उपदेश दे–

देकर उसे समझावें |
कामी लज्या ना करै,  मन माहें अहिलाद |
नींद न माँगै सांथरा,  भूख न माँगै स्वाद ||5||
भावार्थ – कामी मनुष्य को लज्जा नहीं आती कुमार्ग पर पैर रखते हुए,
मन में बडा आह्लाद होता है उसे |
नींद लगने पर यह नहीं देखा जाता कि बिस्तरा कैसा है,
और भूखा मनुष्य स्वाद नहीं जानता,  चाहे जो खा लेता है |
ग्यानी मूल गँवाइया,  आपण भये करता |
ताथैं संसारी भला,  मन में रहै डरता ||6||
ज्ञानी ने अहंकार में पडकर अपना मूल भी गवाँ दिया,
वह मानने लगा कि मैं ही सबका कर्ता–धर्त्ता हूँ |
उससे तो संसारी आदमी ही अच्छा,  क्योंकि वह डरकर तो चलता है कि
कहीं कोई भूल न हो जाय |

22

## 7 : : चांणक का अंग

--------------------------

इहि उदर कै कारणे,  जग जाच्यों निस जाम |

स्वामीं–पणो जो सिरि चढ्यो, सर्यो न एको काम ||1||
भावार्थ – इस पेट के लिए दिन–रात साधु का भेष बनाकर वह माँगता फिरा,
और स्वामीपना उसके सिर पर चढ गया |
पर पूरा एक भी काम न हुआ – न तो साधु हुआ और न स्वामी ही |
स्वामी हूवा सीतका, पैकाकार पचास |
रामनाम काँठै रह्या, करै सिषां की आस ||2||
भावार्थ – स्वामी आज–कल मुफ्त में, या पैसे के पचास मिल जाते हैं,
मतलब यह कि सिद्धियाँ और चमत्कार दिखाने और फैलाने वाले स्वामी
रामनाम को वे एक किनारे रख देते हैं, और शिष्यों से आशा करते हैं
लोभ में डूबकर |
कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि धरी खटाइ |
राज–दुबारां यौ फिरै, ज्यूँ हरिहाई गाइ ||3||

भावार्थ – कलियुग के स्वामी बडे लोभी हो गये हैं, और उनमें विकार आ गया है,



जैसे पीतल की बटलोई में खटाई रख देने से |
राज–द्वारों पर ये लोग मान–सम्मान पाने के लिए घूमते रहते हैं,
जैसे खेतों में बिगडैल गायें घुस जाती हैं |
कलि का स्वामी लोभिया, मनसा धरी बधाइ |
दैंहि पईसा ब्याज कौं, लेखां करतां जाइ ||4||
भावार्थ – कलियुग का यह स्वामी कैसा लालची हो गया है ॐलोभ बढता ही जाता है इसका |
ब्याज पर यह पैसा उधार देता है और लेखा–जोखा करने में सारा समय नष्ट कर देता है|
`कबीर' कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ |
लालच लोभी मसकरा, तिनकूँ आदर होइ ||5||
भावार्थ – कबीर कहते हैं – बहुत बुरा हुआ इस कलियुग में,
कहीं भी आज सच्चे मुनि नहीं मिलते |
आदर हो रहा है आज लालचियों का, लोभियों का और मसखरों का |
ब्राह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरू नाहि |
उरझि–पुरझि करि मरि रह्या, चारिउँ बेदां माहि ||6||
भावार्थ – ब्राह्मण भले ही सारे संसार का गुरू हो, पर वह साधु का गुरु नहि हो सकता



वह क्या गुरु होगा, जो चारों वेदों में उलझ–पुलझकर ही मर रहा है |
चतुराई सूवै पढी, सोई पंजर माँहि |
फिरि प्रमोधै आन कौं, आपण समझै नाहि ||7||
भावार्थ – चतुराई तो रटते–रटते तोते को भी आ गई, फिर भी वह पिंजडे में कैद है |

औरों को उपदेश देता है, पर खुद कुछ भी नहीं समझ पाता ।
तीरथ करि करि जग मुवा, डूँधे पाणीं न्हाइ ।
रामहि राम जपंतडां, काल घसीट्यां जाइ ।।8।।
भावार्थ — कितने ही ज्ञानाभिमानी तीर्थों में जा—जाकर और डुबकियाँ लगा—लगाकर मर गये
जीभ से रामनाम का कोरा जप करने वालों को काल घसीट कर ले गया ।
`कबीर' इस संसार कौं, समझाऊँ कै बार ।
पूँछ जो पकडै भेड की, उतर्‍या चाहै पार ।।9।।
भावार्थ — कबीर कहते हैं——कितनी बार समझाऊँ मैं इस बावली दुनिया को ॐ
भेड की पूँछ पकडकर पार उतरना चाहते हैं ये लोग ॐ
[अंध—रूढियों में पडकर धर्म का रहस्य समझना चाहते हैं ये लोग ॐ]

25

`कबीर' मन फूल्या फिरैं, करता हूँ मैं ध्रंम ।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम ।।10।।
भावार्थ — कबीर कहते हैं —
फूला नहीं समा रहा है वह कि मैं धर्म करता हूँ, धर्म पर चलता हूँ,
चेत नहीं रहा कि अपने इस भ्रम को देख ले कि धर्म कहाँ है,
जबकि करोडों कर्मों का बोझ ढोये चला जा रहा है ॐ

26

## 8 : : रस का अंग

`कबीर' भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आइ ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाई ।।1।।
भावार्थ — कबीर कहते हैं —कलाल की भट्ठी पर बहुत सारे आकर बैठ गये हैं,
पर इस मदिरा को एक वही पी सकेगा, जो अपना सिर कलाल को खुशी—खुशी सौंप देगा,
नहीं तो पीना हो नहीं सकेगा ।
[कलाल है सद्‌गुरु, मदिरा है प्रभु का प्रेम—रस और सिर है अहंकार ।]
`कबीर' हरि—रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि ।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढई चाकि ।।2।।
भावार्थ — कबीर कहते हैं ——

हरि का प्रेम—रस ऐसा छककर पी लिया कि कोई और रस पीना बाकी नहीं रहा ।
कुम्हार का बनाया जो घडा पक गया, वह दोबारा उसके चाक पर नहीं चढता ।
[ मतलब यह कि सिद्ध हो जाने पर साधक पार कर जाता है जन्म और मरण के चक्र को।]

27

हरि—रस पीया जाणिये, जे कबहुँ न जाइ खुमार ।

मैंमंता घूमत रहै,   नाहीं तन की सार ||3||
भावार्थ –  हरि का प्रेम–रस पी लिया,   इसकी यही पहचान है कि वह नशा अब उतरने का नहीं,   चढा सो चढा |
अपनापन खोकर मस्ती में ऐसे घूमना कि शरीर का भी मान न रहे |
सबै रसाइण मैं किया,   हरि सा और न कोइ |
तिल इक घट मैं संचरै,   तौ सब तन कंचन होई ||4||
भावार्थ –  सभी रसायनों का सेवन कर लिया मैंने,
मगर हरि–रस–जैसी कोई और रसायन नहीं पायी |
एक तिल भी घट में,   शरीर में,   यह पहुँच जाय,
तो वह सारा ही कंचन में बदल जाता है |
[मैल जल जाता है वासनाओं का,   और जीवन अत्यंत निर्मल हो जाता है |]



## 9 : : माया का अंग
--------------------------------------

`कबीर' माया पापणी,   फंध ले बैठी हाटि |
सब जग तौ फंधै पड्या, गया कबीरा काटि ||1||
भावार्थ –  यह पापिन माया फन्दा लेकर फँसाने को बाजार में आ बैठी है |
बहुत सारों पर फंन्दा डाल दिया है इसने |पर कबीर उसे काटकर साफ बाहर निकल आया
हरि भक्त पर फंन्दा डालनेवाली माया खुद ही फँस जाती है,   और वह सहज ही उसे काट कर   निकल आता है |]
`कबीर' माया मोहनी,   जैसी मीठी खांड |
सतगुरु की कृपा भई,   नहीं तौ करती भांड ||2||
भावार्थ –  कबीर कहते हैं –यह मोहिनी माया शक्कर–सी स्वाद में मीठी लगती है,
मुझ पर भी यह मोहिनी डाल देती पर न डाल सकी |
सतगुरु की कृपा ने बचा लिया,   नहीं तो यह मुझे भांड बना–कर छोडती |
जहाँ–तहाँ चाहे जिसकी चाटुकारी मैं करता फिरता |
माया मुई न मन मुवा,   मरि–मरि गया सरीर |
आसा त्रिष्णां ना मुई,   यों कहि गया`कबीर' ||3||



भावार्थ –  कबीर कहते हैं ––न तो यह माया मरी और न मन ही मरा,
शरीर ही बार–बार गिरते चले गये |मैं हाथ उठाकर कहता हूँ |
न तो आशा का अंत हुआ और न तृष्णा का ही |
`कबीर' सो धन संचिये,   जो आगैं कूं होइ |
सीस चढावें पोटली,   ले जात न देख्या कोइ ||4||
भावार्थ –  कबीर कहते हैं,––उसी धन का संचय करो न,   जो आगे काम दे |
तुम्हारे इस धन में क्या रखा है ?
गठरी सिर पर रखकर किसी को भी आजतक ले जाते नहीं देखा |

त्रिसणा सींची ना बुझै, दिन दिन बधती जाइ |
जवासा के रूष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ ||5||
भावार्थ – कैसी आग है यह तृष्णा की ॐज्यौं–ज्यौं इसपर पानी डालो, बढती ही जाती है |
जवासे का पौधा भारी वर्षा होने पर भी कुम्हला तो जाता है, पर मरता नहीं,
फिर हरा हो जाता है |
कबीर जग की को कहै, भौजलि, बुडै दास |
पारब्रह्म पति छाँडि करि, करैं मानि की आस ||6||


भावार्थ – कबीर कहते हैं––
दुनिया के लोगों की बात कौन कहे, भगवान के भक्त भी भवसागर में डूब जाते हैं |
इसीलिए परब्रह्म स्वामी को छोडकर वे दूसरों से मान–सम्मान पाने की आशा करते हैं|
माया तजी तौ क्या भया, मानि तजी नहीं जाइ |
मानि बडे मुनियर गिले, मानि सबनि को खाइ ||7||
भावार्थ – क्या हुआ जो माया को छोड दिया, मान–प्रतिष्ठा तो छोडी नहीं जा रही |
बडे–बडे मुनियों को भी यह मान–सम्मान सहज ही निगल गया |
यह सबको चबा जाता है, कोई इससे बचा नहीं |
`कबीर' इस संसार का, झूठा माया मोह |
जिहि घरि जिता बधावणा, तिहि घरि तिता अंदोह ||8||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –– झूठा है संसार का सारा माया और मोह |
सनातन नियम यह है कि –

जिस घर में जितनी ही बधाइयाँ बजती हैं, उतनी ही विपदाएँ वहाँ आती हैं |
बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ्या कलंक |
और पखेरू पी गये , हंस न बोवे चंच ||9||


भावार्थ – बगुली ने चोंच डुबोकर सागर का पानी जूठा कर डाला ॐ
सागर सारा ही कलंकित हो गया उससे |और दूसरे पक्षी तो उसे पी–पीकर उड गये,
पर हंस ही ऐसा था, जिसने अपनी चोंच उसमें नहीं डुबोई |
`कबीर' माया जिनि मिले, सौ बरियाँ दे बाँह |
नारद से मुनियर मिले, किसो भरोसौ त्याँह ||10||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –अरे भाई, यह माया तुम्हारे गले में बाहें डालकर भी सौ–सौ
बार बुलाये, तो भी इससे मिलना–जुलना अच्छा नहीं |
जबकि नारद–सरीखे मुनिवरों को यह समूचा ही निगल गई, तब इसका विश्वास क्या ?



## 10 : : कथनी–करणी का अंग
-------------------------------

जैसी मुख तैं नीकसै, तैसी चालै चाल |
पारब्रह्म नेडा रहै, पल में करै निहाल ||1||
भावार्थ - मुँह से जैसी बात निकले, उसीपर यदि आचरण किया जाय, वैसी ही चाल चली जाय, तो भगवान् तो अपने पास ही खडा है, और वह उसी क्षण निहाल कर देगा |
पद गाए मन हरषियां, साषी कह्यां अनंद |
सो तत नांव न जाणियां, गल में पडिया फंद ||2||
भावार्थ - मन हर्ष में डूब जाता है पद गाते हुए, और साखियाँ कहने में भी आनन्द

आता है |
लेकिन सारतत्व को नहीं समझा, और हरिनाम का मर्म न समझा, तो गले में फन्दा ही पडनेवाला है |
मैं जाण्यूं पढिबौ भलो, पढबा थैं भलौ जोग |
राम-नाम सूं प्रीति करि, भल भल नींदौ लोग ||3||
भावार्थ - पहले मैं समझता था कि पोथियों का पढना बडा अच्छा है, फिर सोचा कि पढने से योग-साधन कहीं अच्छा है | पर अब तो इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि रामनाम से ही सच्ची प्रीति की जाय, भले ही अच्चै-अच्छे लोग मेरी निन्दा करें |

33

`कबीर' पढिबो दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ |
बावन आषिर सोधि करि, `ररै'`ममै' चित्त लाइ ||4||
भावार्थ - कबीर कहते हैं --पढना लिखना दूर कर, किताबों को पानी में बहा दे | बावन अक्षरों में से तू तो सार के ये दो अक्षर ढूँढकर ले ले--`रकार' और `मकार'| और इन्हींमें अपने चित्त को लगा दे |
पोथी पढ पढ जग मुवा, पंडित भया न कोय |
ऐकै आषिर पीव का, पढै सो पंडित होइ ||5||
भावार्थ - पोथियाँ पढ-पढकर दुनिया मर गई, मगर कोई पण्डित नहीं हुआ | पण्डित तो वही हो सकता है, जिसने प्रियतम प्रभु का केवल एक अक्षर पढ लिया |
[पाठान्तर है`ढाई आखर प्रेम का' अर्थात प्रेम शब्द के जिसने ढाई अक्षर पढ

लिये, अपने जीवन में उतार लियर, उसी को पण्डित कहना चाहिए |]
करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि-करि तुंड |
जानें-बूझै कुछ नहीं, यौंहीं आंधां रूंड ||6||
भावार्थ - हमने देखा ऐसों को, जो मुख को ऊँचा करके जोर-जोर से कीर्तन करते हैं |

34

जानते-समझते तो वे कुछ भी नहीं कि क्या तो सार है और क्या असार | उन्हें अन्धा कहा जाय, या कि बिना सिर का केवल रुण्ड ?

35

## 11 : : सांच का अंग
-----------------------------

लेखा देणां सोहरा, जे दिल सांचा होइ ।
उस चंगे दीवान में, पला न पकडै कोइ ।।1।।
भावार्थ – दिल तेरा अगर सच्चा है, तो लेना–देना सारा आसान हो जायगा ।
उलझन तो झूठे हिसाब–किताब में आ पडती है,
जब साई के दरबार में पहुँचेगा, तो वहाँ कोई तेरा पल्ला नहीं पकडेगा ,
क्योंकि सबकुछ तेरा साफ–ही–साफ होगा ।
साँच कहूं तो मारिहैं, झूठे जग पतियाइ ।
यह जग काली कूकरी, जो छेडै तो खाय ।।2।।
भावार्थ – सच–सच कह देता हूँ तो लोग मारने दौडेंगे, दुनिया तो झूठ पर ही विश्वास करती है ।
लगता है, दुनिया जैसे काली कुतिया है, इसे छेड दिया, तो यह काट खायेगी ।
यहु सब झूठी बंदिगी, बरियाँ पंच निवाज ।
सांचै मारे झूठ पढि, काजी करै अकाज ।।3।।
भावार्थ – काजी भाई ॐ तेरी पाँच बार की यह नमाज झूठी बन्दगी है,
झूठी पढ–पढकर तुम सत्य का गला घोंट रहे हो ,



और इससे दुनिया की और अपनी भी हानि कर रहे हो ।
[क्यों नहीं पाक दिल से सच्ची बन्दगी करते हो ?]
सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जिस हिरदे में सांच है, ता हिरदै हरि आप ।।4।।
भावार्थ – सत्य की तुलना में दूसरा कोई तप नहीं, और झूठ के बराबर दूसरा पाप नहीं ।
जिसके हृदय में सत्य रम गया, वहाँ हरि का वास तो सदा रहेगा ही ।
प्रेम–प्रीति का चोलना, पहिरि कबीरा नाच ।
तन–मन तापर वारहूँ, जो कोइ बोलै सांच ।।5।।
भावार्थ – प्रेम और प्रीति का ढीला–ढाला कुर्ता पहनकर कबीर मस्ती में नाच रहा है,
और उसपर तन और मन की न्यौछावर कर रहा है, जो दिल से सदा सच ही बोलता है।
काजी मुल्लां भ्रंमियां, चल्या दुनीं कै साथ ।
दिल थैं दीन बिसारिया, करद लई जब हाथ ।।6।।
भावार्थ – ये काजी और मुल्ले तभी दीन के रास्ते से भटक गये और दुनियादारों के साथ–साथ चलने लगे,
जब कि इन्होंने जिबह करने के लिए हाथ में छुरी पकड ली दीन के नाम पर।



साई सेती चोरियां, चोरां सेती गुझ ।
जाणैंगा रे जीवणा, मार पडैगी तुझ ।।7।।
भावार्थ – वाह ॐ क्या कहने हैं, साई से तो तू चोरी और दुराव करता है

और दोस्ती कर ली है चोरों के साथ ॐ
जब उस दरबार में तुझपर मार पडेगी, तभी तू असलियत को समझ सकेगा |
खूब खांड है खीचडी, माहि पड्याँ टुक लूण |
पेडा रोटी खाइ करि, गल कटावे कूण ||8||
भावार्थ – क्या ही बढिया स्वाद है मेरी इस खिचडी का ॐजरा–सा, बस, नमक डाल लिया है
पेडे और चुपडी रोटियाँ खा–खाकर कौन अपना गला कटाये ?



## 12 : : भ्रम–बिधोंसवा का अंग

-----------------------------------

जेती देखौ आत्मा, तेता सालिगराम |
साधू प्रतषि देव हैं, नहीं पाथर सूं काम ||1||
भावार्थ – जितनी ही आत्माओं को देखता हूँ, उतने ही शालिग्राम दीख रहे हैं |
प्रत्यक्ष देव तो मेरे लिए सच्चा साधु है |पाषाण की मूर्ति पूजने से क्या
बनेगा मेरा ?
जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास |
सूवै सैंबल सेविया, यौं जग चल्या निरास ||2||
भावार्थ – कोरा जप और तप मुझे थोथा ही दिखायी देता है,
और इसी तरह तीर्थो और व्रतों पर विश्वास करना भी |
सुवे ने भ्रम में पडकर सेमर के फूल को देखा, पर उसमें रस न पाकर निराश हो गया

वैसी ही गति इस मिथ्या–विश्वासी संसार की है |
तीरथ तो सब बेलडी, सब जग मेल्या छाइ |
`कबीर' मूल निकंदिया, कौण हलाहल खाइ ||3||
भावार्थ – तीर्थ तो यह ऐसी अमरबेल है, जो जगत रूपी वृक्ष पर बुरी तरह छा गई है |



कबीर ने इसकी जड ही काट दी है, यह देखकर कि कौन विष का पान करे ॐ
मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाणि |
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछाणि ||4||
भावार्थ – मेरा मन ही मेरी मथुरा है, और दिल ही मेरी द्वारिका है,
और यह काया मेरी काशी है |
दसवाँ द्वार वह देवालय है, जहाँ आत्म–ज्योति को पहचाना जाता है |
[ दसवें द्वार से तात्पर्य है, योग के अनुसार ब्रह्मरन्ध्र से |]
`कबीर' दुनिया देहुरै, सीस नवांवण जाइ |
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताही सौं ल्यौ लाइ ||5||
भावार्थ – कबीर कहते हैं ––यह नादान दुनिया, भला देखो तो, मन्दिरों में माथा टेकने

जाती है | यह नहीं जानती कि हरि का वास तो हृदय में है ,
तब वहीं पर क्यों न लौ लगायी जाय ?



## 13 : : साध–असाध का अंग

-------------------------------

जेता मीठा बोलणा, तेता साध न जाणि |
पहली थाह दिखाइ करि, उंडै देसी आणि ||1||
भावार्थ – उनको वैसा साधु न समझो, जैसा और जितना वे मीठा बोलते हैं |
पहले तो नदी की थाह बता देते हैं कि कितनी और कहाँ है,
पर अन्त में वे गहरे में डुबो देते हैं |
[सो मीठी–मीठी बातों में न आकर अपने स्वयं के विवेक से काम लिया जाये |]
उज्ज्वल देखि न धीजिये, बग ज्यूं मांडै ध्यान |
धौंरे बैठि चपेटसी, यूं ले बूडै ग्यान ||2||
भावार्थ – ऊपर–ऊपर की उज्ज्वलता को देखकर न भूल जाओ, उस पर विश्वास न करो |
उज्ज्वल पंखों वाला बगुला ध्यान लगाये बैठा है,
कोई भी जीव–जन्तु पास गया, तो उसकी चपेट से छूटने का नहीं |
[दम्भी का दिया ज्ञान भी मंझधार में डुबो देगा |]
`कबीर' संगत साध की, कदे न निरफल होइ |
चंदन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ ||3||



भावार्थ – कबीर कहते हैं – साधु की संगति कभी भी व्यर्थ नहीं जाती, उससे सुफल मिलता ही है | चन्दन का वृक्ष बावना अर्थात् छोटा–सा होता है,
पर उसे कोई नीम नहीं कहता, यद्यपि वह कहीं अधिक बडा होता है |
`कबीर' संगति साध की, बेगि करीजै जाइ |
दुर्मति दूरि गंवाइसी, देसी सुमति बताइ ||4||
भावार्थ – साधु की संगति जल्दी ही करो, भाई, नहीं तो समय निकल जायगा |
तुम्हारी दुर्बुद्धि उससे दूर हो जायगी और वह तुम्हें सुबुद्धि का रास्ता पकडा देगी |
मथुरा जाउ भावै द्वारिका, भावै जाउ जगनाथ |
साध–संगति हरि–भगति बिन, कछू न आवै हाथ ||5||
भावार्थ – तुम मथुरा जाओ, चाहे द्वारिका, चाहे जगन्नाथपुरी,
बिना साधु–संगति और हरि–भक्ति के कुछ भी हाथ आने का नहीं |
मेरे संगी दोइ जणा, एक वैष्णौ एक राम |
वो है दाता मुकति का, वो सुमिरावै नाम ||6||



भावार्थ – मेरे तो ये दो ही संगी साथी हैं – एक तो वैष्णव, और दूसरा राम |

राम जहाँ मुक्ति का दाता है, वहाँ वैष्णव नाम–स्मरण कराता है |
तब और किसी साथी से मुझे क्या लेना–देना ?

`कबीर' बन बन में फिरा, कारणि अपणैं राम |
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सबरे काम ||7||

भावार्थ –कबीर कहते हैं – अपने राम को ढूँढते–ढूँढते एक बन में से मैं दूसरे बन में गया, जब वहाँ मुझे स्वयं राम के सरीखे भक्त मिल गये, तो उहोंने मेरे सारे काम बना दिये | मेरा वन वन का भटकना तभी सफल हुआ |

जानि बूझि सांचहि तजै, करैं झूठ सूं नेहु |
ताकी संगति रामजी, सुपिनें ही जिनि देहु ||8||

भावार्थ –जो मनुष्य जान–बूझकर सत्य को छोड देता है, और असत्य से नाता जोड लेता है हे रामॐ सपने में भी कभी मुझे उसका साथ न देना |

`कबीर' तास मिलाइ, जास हियाली तू बसै |
नहितर बेगि उठाइ, नित का गंजन को सहै ||9||



भावार्थ – कबीर कहते हैं –

मेरे साई, मुझे तू किसी ऐसे से मिला दे, जिसके हृदय में तू बस रहा हो,
नहीं तो दुनिया से मुझे जल्दी ही उठा ले |रोज–रोज की यह पीडा कौन सहे ?



## 14 : : संगति का अंग

-----------------------------

हरिजन सेती रूसणा, संसारी सूँ हेत |
ते नर कदे न नीपजैं, ज्यूं कालर का खेत ||1||

भावार्थ – हरिजन से तो रूठना और संसारी लोगों के साथ प्रेम करना – ऐसों के अन्तर में भक्ति–भावना कभी उपज नहीं सकती, जैसे खारवाले खेत में कोई भी बीज उगता नहीं |

मूरख संग न कीजिए, लोहा जलि न तिराइ |
कदली–सीप–भूवंग मुख, एक बूंद तिहँ भाइ ||2||

भावार्थ – मूर्ख का साथ कभी नहीं करना चाहिए, उससे कुछ भी फलित होने का नहीं |
लोहे की नाव पर चढकर कौन पार जा सकता है ?
वर्षा की बूँद केले पर पडी, सीप में पडी और सांप के मुख में पडी –
परिणाम अलग–अलग हुए– कपूर बन गया, मोती बना और विष बना |

माषी गुड मैं गडि रही, पंख रही लपटाइ |
ताली पीटै सिरि धुनैं, मीठैं बोई माइ ||3||

भावार्थ – मक्खी बेचारी गुड में धंस गई, फंस गई, पंख उसके चेंप से लिपट गये |

मिठाई के लालच में वह मर गई, हाथ मलती और सिर पीटती हुई |
ऊँचे कुल क्या जनमियां, जे करनी ऊँच न होइ |
सोवरन कलस सुरै भरया, साधू निंद्या सोइ ||4||
भावार्थ – ऊँचे कुल में जन्म लेने से क्या होता है, यदि करनी ऊँची न हुई ?
साधुजन सोने के उस कलश की निन्दा ही करते हैं, जिसमें कि मदरा भरी हो |
`कबिरा' खाई कोट की, पानी पिवै न कोइ |
जाइ मिलै जब गंग से, तब गंगोदक होइ ||5||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –
किले को घेरे हुए खाई का पानी कोई नहीं पीता, कौन पियेगा वह गंदला पानी ?
पर जब वही पानी गंगा में जाकर मिल जाता है, तब वह गंगोदक बन जाता है,
परम पवित्र ॐ
`कबीर' तन पंषो भया, जहाँ मन तहाँ उडि जाइ |
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ||6||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –
यह तन मानो पक्षी हो गया है, मन इसे चाहे जहाँ उडा ले जाता है |
जिसे जैसी भी संगति मिलती है– संग और कुसंग – वह वैसा ही फल भोगता है |
[ मतलब यह कि मन ही अच्छी और बुरी संगति मे ले जाकर वैसे ही फल देता है |]
काजल केरी कोठडी, तैसा यहु संसार |
बलिहारी ता दास की, पैसि र निकसणहार ||7||
भावार्थ – यह दुनिया तो काजल की कोठरी है, जो भी इसमें पैठा, उसे कुछ–न–कुछ कालिख
लग ही जायगी | धन्य है उस प्रभु–भक्त को,
जो इसमें पैठकर बिना कालिख लगे साफ निकल आता है |

47

## 15 : : मन का अंग

`कबीर' मारूँ मन कूं, टूक–टूक ह्वै जाइ |
बिष की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ||1||
भावार्थ – इस मन को मैं ऐसा मारूँगा कि वह टूक–टूक हो जाय |
मन की ही करतूत है यह, जो जीवन की क्यारी में विष के बीज मैंने बो दिये ,
उन फलों को तब लेना ही होगा, चाहे कितना ही पछताया जाय |
आसा का ईंधण करूँ, मनसा करूँ बिभूति |
जोगी फेरि फिल करूँ, यौं बिनना वो सूति ||2||
भावार्थ – आशा को जला देता हूँ ईंधन की तरह, और उस राख को तन पर रमाकर जोगी
बन जाता हूँ | फिर जहाँ–जहाँ फेरी लगाता फिरूँगा,
जो सूत इक्टठा कर लिया है उसे इसी तरह बुनूँगा |
[मतलब यह कि आशाएँ सारी जलाकर खाक कर दूँगा और निस्पृह होकर जीवन का क्रम
इसी ताने–बाने पर चलाऊँगा |]
पाणी ही तै पातला, धुवां ही तै झीण |

पवनां बेगि उतावला,  सो दोसत`कबीर' कीन्ह ||3||
भावार्थ - कबीर कहते हैं कि ऐसे के साथ दोस्ती करली है मैंने जो पानी से भी पतला है
और धुएं से भी ज्यादा झीना है | पर वेग और चंचलता उसकी पवन से भी कहीं
अधिक है | [पूरी तरह काबू में किया हुआ मन ही ऐसा दोस्त है |]
`कबीर' तुरी पलाणियां,  चाबक लीया हाथि |
दिवस थकां सांई मिलौं,  पीछै पडिहै राति ||4||
भावार्थ - कबीर कहते हैं -ऐसे घोडे पर जीन कस ली है मैंने,  और हाथ में ले लिया है
चाबुक,  कि सांझ पडने से पहले ही अपने स्वामी से जा मिलूँ |
बाद में तो रात हो जायगी ,  और मंजिल तक नहीं पहुँच सकूँगा |
मैमन्ता मन मारि रे,  घट ही माहैं घेरि |
जबहि चालै पीठि दे,  अंकुस दै-दै फेरि ||5||
भावार्थ - मद-मत्त हाथी को,  जो कि मन है,  घर में ही घेरकर कुचल दो |
अगर यह पीछे को पैर उठाये,  तो अंकुश दे-देकर इसे मोड लो |
कागद केरी नाव री,  पाणी केरी गंग |
कहै कबीर कैसे तिरूँ,  पंच कुसंगी संग ||6||
भावार्थ - कबीर कहते हैं --नाव यह कागज की है,  और गंगा में पानी-ही-पानी भरा है |

49

फिर साथ पाँच कुसंगियों का है,  कैसे पार जा सकूँगा ?
[ पाँच कुसंगियों से तात्पर्य है पाँच चंचल इन्द्रियों से |]
मनह मनोरथ छाँडि दे,  तेरा किया न होइ |
पाणी में घीव नीकसै,  तो रूखा खाइ न कोइ ||7||
भावार्थ - अरे मन ॐ अपने मनोरथों को तू छोड दे,  तेरा किया कुछ होने-जाने का नहीं |
यदि पानी में से ही घी निकलने लगे,  तो कौन रूखी रोटी खायगा ?
[मतलब यह कि मन तो पानी की तरह है,  और घी से तात्पर्य है आत्म-दर्शन |]

50

## 16 : :चितावणी का अंग

---

`कबीर' नौबत आपणी,  दिन दस लेहु बजाइ |
ए पुर पाटन,  ए गली,  बहुरि न देखै आइ ||1 ||
भावार्थ - कबीर कहते हैं-- अपनी इस नौबत को दस दिन और बजालो तुम |
फिर यह नगर,  यह पट्टन और ये गलियाँ देखने को नहीं मिलेंगी ?
कहाँ मिलेगा ऐसा सुयोग,  ऐसा संयोग,  जीवन सफल करने का,  बिगडी बात को बना लेने का
जिनके नौबति बाजती,  मैंगल बंधते बारि |
एकै हरि के नाव बिन,  गए जनम सब हारि ||2||
भावार्थ - पहर-पहर पर नौबत बजा करती थी जिनके द्वार पर,
और मस्त हाथी जहाँ बँधे हुए झूमते थे | वे अपने जीवन की बाजी हार गये |
इसलिए कि उन्होंने हरि का नाम-स्मरण नहीं किया|

इक दिन ऐसा होइगा, सब सूं पडै बिछोह |
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ||3||
भावार्थ – एक दिन ऐसा आयगा ही, जब सबसे बिछुड जाना होगा |

51

तब ये बडे–बडे राजा और छत्र–धारी राणा क्यों सचेत नहीं हो जाते ?
कभी–न–कभी अचानक आ जाने वाले उस दिन को वे क्यों याद नहीं कर रहे ?
`कबीर' कहा गरबियौ, काल गहै कर केस |
ना जाणै कहाँ मारिसी, कै घरि कै परदेस ||4||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –यह गर्व कैसा, जबकि काल ने तुम्हारी चोटी को पकड रखा है?
कौन जाने वह तुम्हें कहाँ और कब मार देगा ॐ पता नहीं कि तुम्हारे घर में ही,
या कहीं परदेश में |
बिन रखवाले बाहिरा, चिडिया खाया खेत |
आधा–परधा ऊबरे, चेति सकै तो चेति ||5||
भावार्थ – खेत एकदम खुला पडा है, रखवाला कोई भी नहीं | चिडियों ने बहुत कुछ उसे
चुग लिया है | चेत सके तो अब भी चेत जा, जाग जा ,
जिससे कि आधा–परधा जो भी रह गया हो, वह बच जाय |
कहा कियौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ |
इत के भये न उत के, चाले मूल गंवाइ ||6||
भावार्थ – हमने यहाँ आकर क्या किया ? और साई के दरबार में जाकर क्या कहेंगे ?

52

न तो यहाँ के हुए और न वहाँ के ही – दोनों ही ठौर बिगाड बैठे |
मूल भी गवाँकर इस बाजार से अब हम बिदा ले रहे हैं |
`कबीर' केवल राम की, तू जिनि छाँडे ओट |
घण–अहरनि बिचि लौह ज्यूं, घणी सहै सिर चोट ||7||
भावार्थ – कबीर कहते हैं, चेतावनी देते हुए ––
राम की ओट को तू मत छोड, केवल यही तो एक ओट है |
इसे छोड दिया तो तेरी वही गति होगी, जो लोहे की होती है ,
हथौडे और निहाई के बीच आकर तेरे सिर पर चोट–पर–चोट पडेगी |
उन चोटों से यह ओट ही तुझे बचा सकती है |
उजला कपडा पहरि करि, पान सुपारी खाहि |
एकै हरि के नाव बिन, बाँधे जमपुरि जाहि ||8||
भावार्थ – बढिया उजले कपडे उन्होंने पहन रखे हैं, और पान–सुपारी खाकर मुँह लाल कर
लिया है अपना | पर यह साज–सिंगार अन्त में बचा नहीं सकेगा, जबकि यमदूत
बाँधकर ले जायंगे |
उस दिन केवल हरि का नाम ही यम–बंधन से छुडा सकेगा |
नान्हा कातौ चित्त दे, महँगे मोल बिकाइ |
गाहक राजा राम है, और न नेडा आइ ||9||

53
भावार्थ – खूब चित्त लगाकर महीन–से–महीन सूत तू चरखे पर कात,
वह बडे महँगे मोल बिकेगा | लेकिन उसका गाहक तो केवल राम है ,
कोई दूसरा उसका खरीदार पास फटकने का नहीं |
मैं–मैं बडी बलाइ है, सकै तो निकसो भाजि |
कब लग राखौ हे सखी, रूई लपेटी आगि ||10||
भावार्थ – यह मैं –मैं बहुत बडी बला है | इससे निकलकर भाग सको तो भाग जाओ |
अरी सखी, रुई में आग को लपेटकर तू कबतक रख सकेगी ?
[राग की आग को चतुराई से ढककर भी छिपाया और बुझाया नहीं जा सकता |]

54

## 17 : : भेष का अंग

माला पहिरे मनमुषी, ताथैं कछू न होई |
मन माला कौ फेरता, जग उजियारा सोइ ||1||
भावार्थ –– लोगों ने यह`मनमुखी' माला धारण कर रखी है, नहीं समझते कि इससे कोई लाभ होने का नहीं | माला मन ही की क्यों नहीं फेरते ये लोग ?
`इधर' से हटाकर मन को`उधर' मोड दें, जिससे सारा जगत जगमगा उठे |
[ आत्मा का प्रकाश फैल जाय और भर जाय सर्वत्र |]
`कबीर' माला मन की, और संसारी भेष |
माला पहर्‌यां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देखि ||2||
भावार्थ – कबीर कहते हैं – सच्ची माला तो अचंचल मन की ही है,
बाकी तो संसारी भेष है मालाधारियों का |
यदि माला पहनने से ही हरि से मिलन होता हो, तो रहट को देखो,
हरि से क्या उसकी भेंट हो गई, इतनी बडी माला गले में डाल लेने से ?
माला पहर्‌यां कुछ नहीं, भगति न आई हाथ |
माथौ मूँछ मुँडाइ करि, चल्या जगत के साथ ||3||
भावार्थ – यदि भक्ति तेरे हाथ न लगी, तो माला पहनने से क्या होना–जाना ?

केवल सिर मुँडा लिया और मूँछें मुँडा लीं – बाकी व्यवहार तो दुनियादारों के जैसा ही है तेरा |
साई सेती सांच चलि, औरां सूं सुध भाइ |
भावै लम्बे केस करि, भावै घुरडि मुंडाइ ||4||
भावार्थ –स्वामी के प्रति तुम सदा सच्चे रहो, और दूसरों के साथ सहज–सीधे भाव से बरतो फिर चाहे तुम लम्बे बाल रखो या सिर को पूरा मुँडा लो |

[वह मालिक भेष को नहीं देखता, वह तो सच्चों का गाहक है |]

केसों कहा बिगाडिया,   जो मुँडै सौ बार |
मन को काहे न मूंडिये,   जामैं बिषय-बिकार ||5||
भावार्थ -बेचारे इन बालों ने क्या बिगाडा तुम्हारा, जो सैकडों बार मूँडते रहते हो
अपने मन को मूँडो न,   उसे साफ करलो न , जिसमें विषयों के विकार-ही-विकार
भरे पडे हैं |


स्वांग पहरि सोरहा भया,   खाया पीया खूंदि |
जिहि सेरी साधू नीकले,   सो तौ मेल्ही मूंदि ||6||
भावार्थ -  वाहॐ खूब बनाया यह साधु का स्वांग ॐ अन्दर तुम्हारे लोभ भरा हुआ है और
खाते पीते हो ठूंस-ठूंस कर ,
जिस गली में से साधु गुजरता है,   उसे तुमने बन्द कर रखा है |

बैसनों भया तौ क्या भया,   बूझा नहीं बबेक |
छापा तिलक बनाइ करि,   दगध्या लोक अनेक ||7||
भावार्थ -इस तरह वैष्णव बन जाने से क्या होता है,   जब कि विवेक को तुमने समझा नहीं ॐ
छापे और तिलक लगाकर तुम स्वयं विषय की आग में जलते रहे,   और दूसरों को भी जलाया|
तन कों जोगी सब करै,   मन कों बिरला कोइ |
सब सिधि सहजै पाइये,   जे मन जोगी होइ ||8||
भावार्थ -  तन के योगी तो सभी बन जाते हैं,   ऊपरी भेषधारी योगी |
मगर मन को योग के रंग में रँगनेवाला बिरला ही कोई होता है |
यह मन अगर योगी बन जाय,   तो सहज ही सारी सिद्धियाँ सुलभ हो जायंगी |

पष ले बूडी पृथमीं,   झूठे कुल की लार |
अलष बिसार्‌यो भेष मैं,   बूडे काली धार ||9||


भावार्थ -  किसी-न-किसी पक्ष को लेकर,   वाद में पडकर और कुल की परम्पराओं को
अपनाकर यह दुनिया डूब गई है |   भेष ने 'अलख' को भुला दिया |   तब काली
धार में तो डूबना ही था |
चतुराई हरि ना मिलै,   ए बातां की बात |
एक निसप्रेही निरधार का,   गाहक गोपीनाथ ||10||
भावार्थ -  कितनी ही चतुराई करो,   उसके सहारे हरि मिलने का नहीं,   चतुराई तो सारी -
बातों-ही-बातों की है |
गोपीनाथ तो एक उसीका गाहक है,   उसीको अपनाता है |जो निस्पृह और निराधार होता है|
[दुनिया की इच्छाओं में फँसे हुए और जहाँ-तहाँ अपना आश्रय खोजनेवाले को दूसरा
कौन खरीद सकता है,   कौन उसे अंगीकार कर सकता है ?]

निरबैरी निहकामता, साई सेती नेह |
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह ||1||
भावार्थ – कोई पूछ बैठे तो सन्तों के लक्षण ये हैं– किसी से भी बैर नहीं, कोई कामना नहीं, एक प्रभु से ही पूरा प्रेम |और विषय–वासनाओं में निर्लेपता |

संत न छांडै संतई, जे कोटिक मिलें असंत |
चंदन भुवंगा बैठिया, तउ सीतलता न तजंत ||2||
भावार्थ – करोडों ही असन्त आजायं, तोभी सन्त अपना सन्तपना नहीं छोडता |
चन्दन के वृक्ष पर कितने ही साँप आ बैठें, तोभी वह शीतलता को नहीं छोडता |

गांठी दाम न बांधई, नहिं नारी सों नेह |
कह`कबीर' ता साध की, हम चरनन की खेह ||3||
भावार्थ – कबीर कहते हैं कि हम ऐसे साधु के पैरों की धूल बन जाना चाहते हैं,
जो गाँठ में एक कौडी भी नहीं रखता और नारी से जिसका प्रेम नहीं |

सिहों के लेहँड नहीं, हंसों की नहीं पाँत |
लालों की नहि बोरियाँ, साध न चलैं जमात ||4||
भावार्थ – सिहों के झुण्ड नहीं हुआ करते और न हंसों की कतारें | लाल–रत्न बोरियों में नहीं भरे जाते, और जमात को साथ लेकर साधु नहि चला करते |

जाति न पूछौ साध की, पूछ लीजिए ग्यान |
मोल करौ तलवार का, पडा रहन दो म्यान ||5||
भावार्थ –क्या पूछते हो कि साधु किस जाति का है?पूछना हो तो उससे ज्ञान की बात पूछो
तलवार खरीदनी है, तो उसकी धार पर चढे पानी को देखो, उसके म्यान को फेंक दो,
भले ही वह बहुमूल्य हो |

`कबीर' हरि का भावता, झीणां पंजर तास |
रैणि न आवै नींदडी, अंगि न चढई मांस ||6||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –हरि के प्यारे का शरीर तो देखो–पंजर ही रह गया है बाकी |
सारी ही रात उसे नींद नहीं आती, और अंग पर मांस नहीं चढ रहा |



राम बियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हे कोइ |
तंबोली के पान ज्यूं , दिन–दिन पीला होइ ||7||
भावार्थ – पूछते हो कि राम का वियोग होता कैसा है ?
विरह में वह व्यथित रहता है, देखकर कोई पहचान नहीं पाता कि वह कौन है ?
तम्बोली के पान की तरह, बिना सींचे, दिन–दिन वह पीला पडता जाता है |

काम मिलावे राम कूं, जे कोई जाणै राखि |
`कबीर' बिचारा क्या कहै, जाकी सुखदेव बोलै साखि ||8||
भावार्थ – हाँ,राम से काम भी मिला सकता है –ऐसा काम, जिसे कि नियंत्रण में रखा जाय|
यह बात बेचारा कबीर ही नहीं कह रहा है, शुकदेव मुनि भी साक्षी भर रहे हैं |

[ आशय धर्म से अविरुद्ध' काम से है, अर्थात् भोग के प्रति अनासक्ति और उसपर नियंत्रण | ]

जिहि हिरदे हरि आइया, सो क्यूं छानां होइ |
जतन-जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ||9||
भावार्थ - जिसके अन्तर में हरि आ बसा, उसके प्रेम को कैसे छिपाया जा सकता है ?
दीपक को जतन कर-कर कितना ही छिपाओ, तब भी उसका उजेला तो प्रकट हो ही जायगा |

61

[रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में चिमनी के अन्दर से फानुस का प्रकाश छिपा नहीं रह सकता | ]

फाटै दीदै में फिरौं, नजरि न आवै कोइ |
जिहि घटि मेरा साँईयाँ, सो क्यूं छाना होइ ||10||
भावार्थ - कबसे मैं आँखें फाड-फाडकर देख रहा हूँ कि ऐसा कोई मिल जाय,
जिसे मेरे साई का दीदार हुआ हो |
वह किसी भी तरह छिपा नहीं रह जायगा, नजर पर चढे तो ॐ

पावकरूपी राम है, घटि-घटि रह्या समाइ |
चित चकमक लागै नहीं, ताथै धूवाँ ह्वै-ह्वै जाइ ||11||
भावार्थ - मेरा राम तो आग के सदृश है, जो घट-घट में समा रहा है |
वह प्रकट तभी होगा, जब कि चित्त उसपर केन्द्रित हो जायगा |
चकमक पत्थर की रगड बैठ नहीं रही, इससे केवल धुँवा उठ रहा है |
तो आग अब कैसे प्रकटे ?

`कबीर' खालिक जागिया, और न जागै कोइ |
कै जगै बिषई विष-भर्‌या, कै दास बंदगी होइ ||12||
भावार्थ - कबीर कहते हैं -जाग रहा है, तो मेरा वह खालिक ही,
दुनिया तो गहरी नींद में सो रही है, कोई भी नहीं जाग रहा |

62

हाँ, ये दो ही जागते हैं -
या तो विषय के जहर में डूबा हुआ कोई, या फिर साई का बन्दा, जिसकी सारी रात बंदगी करते- करते बीत जाती है |

पुरपाटण सुवस बसा, आनन्द ठांयैं ठांइ |
राम-सनेही बाहिरा, उलजंड मेरे भाइ ||13||
भावार्थ - मेरी समझ में वे पुर और वे नगर वीरान ही हैं, जिनमें राम के स्नेही नहीं बस रहे, यद्यपि उनको बडे सुन्दर ढंग से बनाया और बसाया गया है और जगह-जगह जहाँ आनन्द-उत्सव हो रहे हैं |

जिहि घरि साध न पूजि, हरि की सेवा नाहि |
ते घर मडहट सारंषे, भूत बसै तिन माहि ||14||
भावार्थ - जिस घर में साधु की पूजा नहीं, और हरि की सेवा नहीं होती,

वह घर तो मरघट है,  उसमें भूत-ही-भूत रहते हैं ।
हैवर गैवर सघन धन,  छत्रपति की नारि ।
तास पटंतर ना तूलै,  हरिजन की पनिहारि ।।15।।
भावार्थ - हरि-भक्त की पनिहारिन की बराबरी छत्रधारी की रानी भी नहीं कर सकती ।
ऐसे राजा की रानी, जो अच्छे-से-अच्छे घोडों और हाथियों का स्वामी है,

63
और जिसका खजाना अपार धन-सम्पदा से भरा पडा है ।
क्यूं नृप-नारी नींदिये,  क्यूं पनिहारी कौ मान ।
वा मांग संवारे पीव कौ,  या नित उठि सुमिरै राम ।।26।।
भावार्थ - रानी को यह नीचा स्थान क्यों दिया गया,  और पनिहारिन को इतना ऊँचा स्थान ?
इसलिए कि रानी तो अपने राजा को रिझाने के लिए मांग सँवारती है,  सिगार करती है
और वह पनिहारिन नित्य उठकर अपने राम का सुमिरन ।
`कबीर कुल तौ सो भला,  जिहि कुल उपजै दास ।
जिहि कुल दास न ऊपजै,  सो कुल आक-पलास ।।27।।
भावार्थ - कबीर कहते हैं-- कुल तो वही श्रेष्ठ है,  जिसमें हरि-भक्त जन्म लेता है ।
जिस कुल में हरि-भक्त नहीं जनमता,  वह कुल आक और पलास के समान व्यर्थ है ।

64

## 19 : : मधि का अंग

---------------------------

`कबीर'दुबिधा दूरि करि, एक अंग ह्वै लागि ।

यहु सीतल बहु तपति है,  दोऊ कहिये आगि ।।1।।
भावार्थ - कबीर कहते हैं -- इस दुविधा को तू दूर कर दे - कभी इधर की बात करता है,
कभी उधर की ।  एक ही का हो जा ।  यह अत्यन्त शीतल है और वह अत्यंत
तप्त - आग दोनों ही हैं ।
[ दोनों ही `अति' को छोडकर मध्य का मार्ग तू पकड ले ।]
दुखिया मूवा दुख कौं,  सुखिया सुख कौं झुरि ।
सदा अनंदी राम के,  जिनि सुख दुख मेल्हे दूरि ।।2।।
भावार्थ - दुखिया भी मर रहा है,  और सुखिया भी
एक तो अति अधिक दुःख के कारण,  और दूसरा अति अधिक सुख से ।
किन्तु राम के जन सदा ही आनंद में रहते हैं ,
क्योंकि उन्होंने सुख और दुःख दोनों को दूर कर दिया है ।
काबा फिर कासी भया,  राम भया रे रहीम ।
मोट चून मैदा भया , बैठि कबीरा जीम ।।3।।

65
भावार्थ - काबा तो बन गया है काशी,  और मेरा राम ही है रहीम ।

पहले जो आटा मोटा था, वह अब मैदा बन गया |कबीर मौज में बैठा जीम रहा है, स्वाद ले–लेकर |
[साम्प्रदायिकता ने खींचातानी कर–कर मजा किरकिरा कर दिया था | `मध्य का मार्ग पकड लेने से दुविधा सारी दूर हो गयी और जीवन में स्वाद आ गया |]

66

## 20 : : बेसास का अंग

-------------------------

रचनहार कूं चीन्हि लै, खैबे कूं कहा रोइ |
दिल मंदिर मैं पैसि करि, ताणि पछेवडा सोइ ||1||
भावार्थ – क्या रोता फिरता है खाने के लिए ? अपने सरजनहार को पहचान ले न ॐ
दिल के मंदिर में पैठकर उसके ध्यान में चादर तानकर तू बेफिक्र सो जा |
भूखा भूखा क्या करैं, कहा सुनावै लोग |
भांडा घडि जिनि मुख दिया, सोई पूरण जोग ||2||
भावार्थ –अरे, द्वार–द्वार पर क्या चिल्लाता फिरता है किमैं भूखा हूँ, मैं भूखा हूँ?
भांडा गढकर जिसने उसका मुँह बनाया, वही उसे भरेगा, रीता नहीं रखेगा |
`कबीर' का तू चितवै, का तेरा च्यंत्या होइ |
अणच्च्यंत्या हरिजी करैं, जो तोहि च्यंत न होइ ||3||
भावार्थ – कबीर कहते हैं – क्यों व्यर्थ चिता कर रहा है? चिता करने से क्या होगा?
जिस बात को तूने कभी सोचा नहीं, जिसकी चिता नहीं की, उस अ–चिंतित को भी तेरा साई पूरा कर देगा |

67

संत न बांधै गाठडी, पेट समाता–लेइ |
साई सूँ सनमुख रहै, जहाँ माँगै तहां देइ ||4||
भावार्थ – संचय करके संत कभी गठरी नहीं बाँधता | उतना ही लेता है, जितने की दरकार पेट को हो |

साई ॐ तू तो सामने खडा है, जो भी जहाँ माँगूँगा, वह तू वहीं दे देगा |
मानि महातम प्रेम–रस, गरवातण गुण नेह |
ए सबहीं अहला गया, जबहीं कह्या कुछ देह ||5||
भावार्थ – जब भी किसी ने किसी से कहा कि कुछ दे दो, '
समझलो कि तब न तो उसका सम्मान रहा, न बडाई, न प्रेम–रस ,
और न गौरव, और न कोई गुण और न स्नेह ही |
मांगण मरण समान है, बिरला बंचै कोई |
कहै कबीर' रघुनाथ सूं, मति रे मंगावै मोहि ||6||
भावार्थ– कबीर रघुनाथजी से प्रार्थना करता है कि, मुझे किसीसे कभी कुछ माँगना न पडे
क्योंकि माँगना मरण के समान है, बिरला ही कोई इससे बचा है |
`कबीर सब जग हंडिया, मांदल कंधि चढाइ |

हरि बिन अपना कोउ नहीं, देखे ठोकि बजाइ ||7||

68
भावार्थ - कबीर कहते हैं -
सारे संसार में एक मन्दिर से दूसरे मन्दिर का चक्कर मैं काटता फिरा ,
बहुत भटका कंधे पर कांवड रखकर पूजा की सामग्री के साथ | सारे देवी देवताओं
को देख लिया, ठोकबजाकर परख लिया, पर हरि को छोडकर ऐसा कोई नहीं मिला,
जिसे मैं अपना कह सकूं |

69
21 : : सूरातन का अंग
-----------------------------
गगन दमामा बाजिया, पड्या निसानैं घाव |
खेत बुहार्या सूरिमै, मुझ मरणे का चाव ||1||
भावार्थ - गगन में युद्ध के नगाडे बज उठे, और निशान पर चोट पडने लगी |

शूरवीर ने रणक्षेत्र को झाड-बुहारकर तैयार कर दिया ,
तब कहता है कि अब मुझे कट-मरने का उत्साह चढ रहा है | '
`कबीर' सोई सूरिमा, मन सूं माँडै झूझ |
पंच पयादा पाडि ले, दूरि करै सब दूज ||2||
भावार्थ - कबीर कहते हैं -
सच्चा सूरमा वह है, जो अपने वैरी मन से युद्ध ठान लेता है,
पाँचों पयादों को जो मार भगाता है, और द्वैत को दूर कर देता है |
[ पाँच पयादे, अर्थात काम, क्रोध, लोभ, मोह और मत्सर|

द्वैत अर्थात् जीव और ब्रह्म के बीच भेद-भावना |]
`कबीर' संसा कोउ नहीं, हरि सूं लाग्गा हेत |
काम क्रोध सूं झूझणा, चौडै मांड्या खेत ||3||

70
भावार्थ - कबीर कहते हैं --
मेरे मन में कुछ भी संशय नहीं रहा, और हरि से लगन जुड गई |
इसीलिए चौडे में आकर काम और क्रोध से जूझ रहा हूँ रण-क्षेत्र में |
सूरा तबही परषिये, लडै धणी के हेत |
पुरिजा-पुरिजा ह्वै पडै, तऊ न छाँडै खेत ||4||
भावार्थ - शूरवीर की तभी सच्ची परख होती है, जब वह अपने स्वामी के लिए जूझता है |
पुर्जा-पुर्जा कट जाने पर भी वह युद्ध के क्षेत्र को नहीं छोडता |
अब तौ झूझ्या हीं बणै, मुडि चाल्यां घर दूर |
सिर साहिब कौ सौपतां, सोच न कीजै सूर ||5||

भावार्थ - अब तो झूझते बनेगा, पीछे पैर क्या रखना ? अगर यहाँ से मुडोगे तो घर तो बहुत दूर रह गया है | साई को सिर सौंपते हुए सूरमा कभी सोचता नहीं, कभी हिचकता नहीं |

जिस मरनैं थैं जग डरै, सो मेरे आनन्द |
कब मरिहूं, कब देखिहूं पूरन परमानंद ||6||

भावार्थ - जिस मरण से दुनिया डरती है, उससे मुझे तो आनन्द होता है ,

71

कब मरूँगा और कब देखूँगा मैं अपने पूर्ण सच्चिदानन्द को ॐ

कायर बहुत पमांवहीं, बहकि न बोलै सूर |
काम पड्यां हीं जाणिये, किस मुख परि है नूर ||7||

भावार्थ - बडी-बडी डींगे कायर ही हाँका करते हैं, शूरवीर कभी बहकते नहीं | यह तो काम आने पर ही जाना जा सकता है कि शूरवीरता का नूर किस चेहरे पर प्रकट होता है |

`कबीर' यह घर पेम का, खाला का घर नाहि |
सीस उतारे हाथि धरि, सो पैसे घर माहि ||8||

भावार्थ - कबीर कहते हैं - यह प्रेम का घर है, किसी खाला का नहीं , वही इसके अन्दर पैर रख सकता है, जो अपना सिर उतारकर हाथ पर रखले |

[ सीस अर्थात अहंकार | पाठान्तर है `भुइं धरै' | यह पाठ कुछ अधिक सार्थक जचता है | सिर को उतारकर जमीन पर रख देना, यह हाथ पर रख देने से कहीं अधिक शूर-वीरता और निरहंकारिता को व्यक्त करता है |]

`कबीर' निज घर प्रेम का, मारग अगम अगाध |
सीस उतारि पग तलि धरै, तब निकट प्रेम का स्वाद ||9||

72

भावार्थ - कबीर कहते हैं -अपना खुद का घर तो इस जीवात्मा का प्रेम ही है | मगर वहाँ तक पहुँचने का रास्ता बडा विकट है, और लम्बा इतना कि उसका कहीं छोर ही नहीं मिल रहा | प्रेम रस का स्वाद तभी सुगम हो सकता है, जब कि अपने सिर को उतारकर उसे पैरों के नीचे रख दिया जाय |

प्रेम न खेतौ नीपजै, प्रेम न हाटि बिकाइ |
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ ||10||

भावार्थ - अरे भाई ॐ प्रेम खेतों में नहीं उपजता, और न हाट-बाजार में बिका करता है

यह महँगा है और सस्ता भी - यों कि राजा हो या प्रजा, कोई भी उसे सिर देकर खरीद ले जा सकता है |

`कबीर' घोडा प्रेम का, चेतनि चढि असवार |
ग्यान खडग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ||11||

भावार्थ - कबीर कहते हैं -
क्या ही मार-धाड मचा दी है इस चेतन शूरवीर ने |सवार हो गया है प्रेम के

घोडे पर | तलवार ज्ञान की ले ली है, और काल–जैसे शत्रु के सिर पर वह चोट–
पर–चोट कर रहा है |

73

जेते तारे रैणि के, तैते बैरी मुझ |
धड सूली सिर कंगुरें, तऊ न बिसारौं तुझ ||12||
भावार्थ – मेरे अगर उतने भी शत्रु हो जायं, जितने कि रात में तारे दीखते हैं,
तब भी मेरा धड सूली पर होगा और सिर रखा होगा गढ के कंगूरे पर,
फिर भी मैं तुझे भूलने का नहीं |
सिरसाटें हरि सेविये, छांडि जीव की बाणि |
जे सिर दीया हरि मिलै, तब लगि हाणि न जाणि ||13||
भावार्थ – सिर सौंपकर ही हरि की सेवा करनी चाहिए |
जीव के स्वभाव को बीच में नहीं आना चाहिए |
सिर देने पर यदि हरि से मिलन होता है, तो यह न समझा जाय कि वह
कोई घाटे का सौदा है |
`कबीर' हरि सबकूं भजै, हरि कूं भजै न कोइ |
जबलग आस सरीर की, तबलग दास न होइ ||14 ||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –हरि तो सबका ध्यान रखता है, सबका स्मरण करता है ,
पर उसका ध्यान–स्मरण कोई नहीं करता |
प्रभु का भक्त तबतक कोई हो नहीं सकता, जबतक देह के प्रति आशा और आसक्ति है |

74

## 22 : : जीवन–मृतक का अंग

---

`कबीर मन मृतक भया, दुर्बल भया सरीर |
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर ,कबीर ||1||
भावार्थ – कबीर कहते हैं –मेरा मन जब मर गया और शरीर सूखकर कांटा हो गया, तब,
हरि मेरे पीछे लगे फिरने मेरा नाम पुकार–पुकारकर–
`अय कबीर ॐ अय कबीर ॐ'– उलटे वह मेरा जप करने लगे |
जीवन थैं मरिबो भलौ, जो मरि जानैं कोइ |
मरनैं पहली जे मरै, तो कलि अजरावर होइ ||2||
भावार्थ – इस जीने से तो मरना कहीं अच्छा ल मगर मरने–मरने में अन्तर है |
अगर कोई मरना जानता हो, जीते–जीते ही मर जाय |
मरने से पहले ही जो मर गया, वह दूसरे ही क्षण अजर और अमर हो गया |
[जिसने अपनी वासनाओं को मार दिया, वह शरीर रहते हुए भी मृतक अर्थात मुक्त है|]
आपा मेट्या हरि मिलै, हरि मेट्या सब जाइ |
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्यां न कोउ पत्याइ ||3||

75

भावार्थ — अहंकार को मिटा देने से ही हरि से भेंट होती है, और हरि को मिटा दिया, भुला दिया, तो हानि—ही—हानि है |प्रेम की कहानी अकथनीय है | यदि इसे कहा जाय तो कौन विश्वास करेगा ?

`कबीर' चेरा संत का, दासनि का परदास |
कबीर ऐसैं होइ रह्या, ज्यूं पाऊँ तलि घास ||4||

भावार्थ — कबीर सन्तों का दास है, उनके दासों का भी दास है | वह ऐसे रह रहा है, जैसे पैरों के नीचे घास रहती है |

रोडा ह्वै रहो बाट का, तजि पाषंड अभिमान |
ऐसा जे जन ह्वै रहै, ताहि मिलै भगवान ||5||

भावार्थ — पाखण्ड और अभिमान को छोडकर तू रास्ते पर का कंकड बन जा | ऐसी रहनी से जो बन्दा रहता है, उसे ही मेरा मालिक मिलता है |

76

## 23 : : सम्रथाई का अंग

---

जिसहि न कोई तिसहि तू, जिस तू तिस ब कोइ |
दरिगह तेरी सांईयां , ना मरूम कोइ होइ ||1||

भावार्थ — जिसका कहीं भी कोई सहारा नहीं, उसका एक तू ही सहारा है | जिसका तू हो गया, उससे सभी नाता जोड लेते हैं साई ॐ तेरी दरगाह से, जो भी वहाँ पहुँचा, वह महरूम नहीं हुआ , सभी को आश्रय मिला |

सात समंद की मसि करौ, लेखनि सब बनराइ |
धरती सब कागद करौ, तऊ हरि गुण लिख्या न जाइ ||2||

भावार्थ — समंदरों की स्याही बना लूं और सारे ही वृक्षों की लेखनी, और कागज का काम लूँ सारी धरती से, तब भी हरि के अनन्त गुणों को लिखा नहीं जा सकेगा |

अबरन कौ का बरनिये, मोपै लख्या न जाइ |
अपना बाना वाहिया, कहि कहि थाके माइ ||3||

भावार्थ — उसका क्या वर्णन किया जाय, जो कि वर्णन से बाहर है ? मैं उसे कैसे देखूँ वह आँख ही नहीं देखने की | सबने अपना—अपना ही बाना पहनाया उसे, और कह—कहकर थक गया उनका अन्तर |

77

झल बावैं झल दाहिनैं, झलहि माहि व्यौहार |
आगैं पीछैं झलमई, राखैं सिरजन हार ||4||

भावार्थ — झालह्यज्वालाह् बाई ओर जल रही है, और दाहिनी ओर भी, लपटों ने घेर लिया है दुनियाँ के सारे ही व्यवहार को | जहाँ तक नजर जाती है, जलती और उठती हुई लपटें ही दिखाई देती हैं | इस ज्वाला में से एक मेरा सिरजनहार ही निकालकर बचा सकता है |

सांई मेरा बाणियां, सहजि करै ब्यौपार |
बिन डांडी बिन पालडैं, तोले सब संसार ||5||
भावार्थ - ऐसा बनिया है मेरा स्वामी, जिसका व्यापार सहज ही चल रहा है |
उसकी तराजू में न तो डांडी है और न पलडे फिर भी वह सारे संसार
को तौल रहा है, सबको न्याय दे रहा है |
साई सूं सब होत है, बंदे थैं कुछ नाहि |
राई थैं परबत करै, परबत राई माहि ||6||
भावार्थ - स्वामी ही मेरा समर्थ है, वह सब कुछ कर सकता है ल



उसके इस बन्दे से कुछ भी नहीं होने का |
वह राई से पर्वत कर देता है और उसके इशारे से पर्वत भी राई में समा जाता है |



## 24 : : उपदेश का अंग

--------------------------------

बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार |
दुहुं चूका रीता पडैं , वाकूं वार न पार ||1||
भावार्थ - बैरागी वही अच्छा, जिसमें सच्ची विरक्ति हो,
और गृहस्थ वह अच्छा, जिसका हृदय उदार हो |
यदि वैरागी के मन में विरक्ति नहीं, और गृहस्थ के मन में उदारता नहीं,
तो दोनों का ऐसा पतन होगा कि जिसकी हद नहीं |
`कबीर' हरि के नाव सूं, प्रीति रहै इकतार |
तो मुख तैं मोती झडैं, हीरे अन्त न फार ||2||
भावार्थ - कबीर कहते हैं --
यदि हरिनाम पर अविरल प्रीति बनी रहे, तो उसके मुख से मोती-ही मोती झडेंगे,
और इतने हीरे कि जिनकी गिनती नहीं |
[ हरि भक्त का व्यवहार - बर्ताव सबके प्रति मधुर ही होता है- मन मधुर, वचन
मधुर और कर्म मधुर |]
ऐसी बाणी बोलिये, मन का आपा खोइ |
अपना तन सीतल करै, औरन को सुख होइ ||3||



भावार्थ - अपना अहंकार छोडकर ऐसी बाणी बोलनी चाहिए कि, जिससे बोलनेवाला स्वयं
शीतलता और शान्ति का अनुभव करे, और सुननेवालों को भी सुख मिले |
कोइ एक राखै सावधां, चेतनि पहरै जागि |
बस्तर बासन सूं खिसै, चोर न सकई लागि ||4||

भावार्थ – पहर–पहर पर जागता हुआ जो सचेत रहता है, उसके वस्त्र और बर्तन कैसे
कोई ले जा सकता है ?चोर तो दूर ही रहेंगे, उसके पीछे नहीं लगेंगे |
जग में बैरी कोइ नहीं, जो मन सीतल होइ |
या आपा को डारिदे, दया करै सब कोइ ||5||
भावार्थ – हमारे मन में यदि शीतलता है, क्रोध नहीं है और क्षमा है, तो संसार
में हमसे किसीका बैर हो नहीं सकता |
अथवा अहंकार को निकाल बाहर करदें, तो हम पर सब कृपा ही करेंगे |
आवत गारी एक है, उलटत होइ अनेक |
कह॒कबीर' नहिं उलटिए, वही एक की एक ||6||
भावार्थ – हमें कोई एक गाली दे और हम उलटकर उसे गालियाँ दें, तो
वे गालियाँ अनेक हो जायेंगी| कबीर कहते हैं कि यदि गाली को पलटा न जाय,
गाली का जवाब गाली से न दिया जाय, तो वह गाली एक ही रहेगी |

81

बोलत ही पहिचानिए , साहु चोर को घाट |
अन्तर की करनी सबै, निकसै मुख की बाट ||7||
भावार्थ – कौन तो साह है, और कौन चोर – यह उसके बोलने से ही पहचाना जा सकता है |
अन्तर में अच्छा या बुरा जो भी भरा हुआ है, वह मुँह के रास्ते बाहर निकल
आता है |

82

25 : : विविध

------------------------

पाइ पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि |
जोडी बिछटी हंस की, पड्या बगां के साथि ||1||
भावार्थ –अनमोल पदार्थ जो मिल गया था, उसे तो छोड दिया और कंकड हाथ में ले लिया |
हंसों के साथ से बिछुड गया और बगुलों के साथ हो लिया |
[तात्पर्य यह कि आखिरी मंजिल तक पहुँचते–पहुँचते साधक यात्रियों का साथ छूट
जाने और सिद्धियों के फेर में पड जाने से यह जीव फिर दुनियांदारी की तरफ लौट
आया |]
हरि हीरा, जन जौहरी, ले ले मॉंडी हाटि |
जब र मिलैगा पारिषी, तब हरि हीरां की साटि ||2||
भावार्थ – हरि ही हीरा है, और जौहरी है हरि का भक्त
हीरे को हाट–बाजार में बेच देने के लिए उसने दूकान लगा रखी है,
वही और तभी इसे कोई खरीद सकेगा, जबकि सच्चे पारखी अर्थात् सद्गुरु से
भेंट हो जायगी
बारी बारी आपणीं, चले पियारे म्यंत |
तेरी बारी रे जिया , नेडी आवै नित ||3||

83

भावार्थ – अपने प्यारे संगी–साथी और मित्र बारी–बारी से विदा हो रहे हैं,
अब, मेरे जीव, तेरी भी बारी रोज–रोज नजदीक आती जा रही है ।

जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ।।4।।

भावार्थ – जिसका उदय हुआ, उसका अस्त होगा हील जो फूल खिल उठा, वह कुम्हलायगा ही ल
जो मकान चिना गया, वह कभी–न–कभी तो गिरेगा हील
और जो भी दुनियाँ में आया, उसे एक न एक दिन कूच करना ही है ।

गोव्यंद के गुण बहुत हैं, लिखे जु हिरदै मांहि ।
डरता पाणी ना पीऊँ , मति वै धोये जाहि ।।5।।

भावार्थ – कितने सारे गोविन्द के गुण मेरे हृदय में लिखे हुए हैं, कोई गिनती नहीं
उनकी । पानी मैं डरते–डरते पीता हूँ कि कहीं वे गुण धुल न जायं ।

निंदक नेडा राखिये, आंगणि कुटी बंधाइ ।
बिन साबण पाणी बिना, निरमल करै सुभाइ ।।6।।

भावार्थ – अपने निन्दक को अपने पास ही रखना चाहिए,
आंगन में उसके लिए कुटिया भी बना देनी चाहिए ।

84

क्योंकि वह सहज ही बिना साबुन और बिना पानी के धो–धोकर निर्मल बना देता है ।

न्यंदक दूर न कीजिये, दीजै आदर मान ।
निरमल तन मन सब करै, बकि बकि आनहि आन ।।7।।

भावार्थ – अपने निन्दक को कभी दूर न किया जाय, आँखों में ही उसे बसा लिया जाय ।
उसे मान–सम्मान दे दिया जाय। तन और मन को, क्योंकि वह निर्मल कर देता है ।
निन्दा कर–कर अवसर देता है हमें अपने आपको देखने–परखने का ।

`कबीर' आप ठगाइए और न ठगिये कोइ ।
आप ठग्यां सुख ऊपजै, और ठग्यां दुख होइ ।।8।।

भावार्थ – कबीर कहते हैं ––

खुद तुम भले ही ठगाये जाओ, पर दूसरों को नहीं ठगना चाहिए ।
खुद के ठगे जाने से आनन्द होता है, जब कि दूसरों को ठगने से दुःख ।

`कबीर' घास न नींदिए, जो पाऊँ तलि होइ ।
उडि पडै जब आँखि मैं, बरी दुहेली होइ ।।9।।

85

भावार्थ – कबीर कहते हैं –पैरों तले पडी हुई घास का भी अनादर नहीं करना चाहिए ।
एक छोटा–सा तिनका भी उसकी आँख में यदि पड गया, तो बडी मुश्किल हो जायगी ।

करता केरे बहुत गुण, औगुण कोई नांहि ।

जो दिल कोजौं आपणौं,  तौ सब औगुण मुझ माहि ||10||
भावार्थ –  सिरजनहार में गुण–ही–गुण हैं,  अवगुण एकभी नहीं |
अवगुण ही देखने हैं,  तो हम अपने दिल को ही खोजें |
खूंदन तौ धरती सहै,  बाढ सहै बनराइ |
कुसबद तौ हरिजन सहै,  दूजै सह्या न जाइ ||11||
भावार्थ –  धरती को कितना ही खोदो–खादो,  वह सब सहन कर लेती है |  और नदी तीर के वृक्ष बाढ को सह लेते हैं |
कटु वचन तो हरिजन ही सहते है,  दूसरों से वे सहन नहीं हो सकते |
सीतलता तब जाणियें ,समिता रहै समाइ |
पष छाँडै निरपष रहै,  सबद न देष्या जाइ ||12||
भावार्थ –  हमारे अन्दर शीतलता का संचार हो गया है,  यह समता आ जाने पर ही जाना जा सकता है |  पक्ष–अपक्ष छोडकर जबकि हम निष्पक्ष हो जायं |  और कटुवचन जब अपना कुछ भी प्रभाव न डाल सकें |
`कबीर' सिरजनहार बिन,  मेरा हितू न कोइ |
गुण औगुण बिहडै नहीं,  स्वारथ बंधी लोइ ||13||
भावार्थ –  कबीर कहते हैं –  मेरा और कोई हितू नहीं सिवा मेरे एक सिरजनहार के |
मुझ में गुण हो या अवगुण,  वह मेरा कभी त्याग नहीं करता |
ऐसा तो दुनियादार ही करते हैं स्वार्थ में बँधे होने के कारण |
साई एता दीजिए,  जामें कुटुंब समाइ |
मैं भी भूखा ना रहूँ,  साधु न भूखा जाइ ||14||
भावार्थ –  ऐ मेरे मालिक ॐ तू मुझे इतना ही दे,कि जिससे एक हद के भीतर मेरे कुटुम्ब की जरूरतें पूरी हो जायं |
मैं भी भूखा न रहूँ,  और जब कोई भला आदमी द्वार पर आ जाय,  तो वह भूखा ही वापस न चला जाय |
नीर पियावत क्या फिरै,  सायर घर–घर बारि |
जो त्रिषावन्त होइगा,  सो पीवेगा झखमारि ||15||

87

भावार्थ –  क्या पानी पिलाता फिरता है घर–घर जाकर ?
अन्तर्मुख होकर देखा तो घर–घर में,  घट–घट में,  सागर भरा लहरा रहा है |
सचमुच जो प्यासा होगा,  वह झख मारकर अपनी प्यास बुझा लेगा |
[आत्मानन्द का सागर सभी के अन्दर भरा पडा है | `तृषावंत' से तात्पर्य है सच्चे तत्त्व–जिज्ञासु से |]
हीरा तहाँ न खोलिये,  जहँ खोटी है हाटि |
कसकरि बाँधो गाठरी,  उठि करि चालौ बाटि ||16||
भावार्थ –  जहाँ खोटा बाजार लगा हो,  ईमान–धरम की जहाँ पूछ न हो ,

वहाँ अपना हीरा खोलकर मत दिखाओ |पोटली में कसकर उसे बन्द करलो और अपना रास्ता पकडो |

[ हीरा से मतलब है आत्मज्ञान से| `खोटीहाट' से मतलब है अनधिकारी लोगों से, जिनके अन्दर जिज्ञासा न हो |]

हीरा परा बजार में, रहा छार लपिटाइ |
ब तक मूरख चलि गये, पारखि लिया उठाइ ||17||

भावार्थ - हीरा योंही बाजार में पडा हुआ था - देखा और अनदेखा भी, धूल मिट्टी से लिपटा हुआ | जितने भी अपारखी वहाँ से गुजरे, वे यों ही चले गये | लेकिन जब सच्चा पारखी वहाँ पहुँचा तो उसने बडे प्रेम से उसे उठाकर गंठिया लिया

सब काहू का लीजिए, सांचा सबद निहार |
पच्छपात ना कीजिए, कहै'कबीर' बिचार ||18||

भावार्थ - कबीर खूब विचारपूर्वक इस निर्णय पर पहुँचा है कि जहाँ भी, जिसके पास भी सच्ची बात मिले उसे गांठ में बाँध लिया जाय पक्ष और अपक्ष को छोडकर |

क्या मुख लै बिनती करौ, लाज आवत है मोहि |
तुम देखत औगुन करौ, कैसे भावों तोहि ||19||

भावार्थ - सामने खडा हूँ तेरे, और चाहता हूँ कि विनती करूँ | पर करूँ तो क्या मुँह लेकर, शर्म आती है मुझे | तेरे सामने ही भूल-पर-भूल कर रहा हूँ और पाप कमा रहा हूँ | तब मैं कैसे, मेरे स्वामी, तुझे पसन्द आऊँगा ?

सुरति करौ मेरे साइयां, हम हैं भौजल माहि |
आपे ही बहि जाहिगे, जौ नहि पकरौ बाहि ||20||

भावार्थ - मेरे साई ॐ हम पर ध्यान दो, हमें भुला न दो |भवसागर में हम डूब रहे हैं| तुमने यदि हाथ न पकडा तो बह जायंगे | अपने खुद के उबारे तो हम उबर नहीं सकेंगे |

: इति ः

## अन्य दोहे–

दुख में सुमरिन सब करे, सुख मे करे न कोय ।
जो सुख मे सुमरिन करे, दुख काहे को होय ॥ 1 ॥
तिनका कबहुँ ना निंदिये, जो पाँव तले होय ।
कबहुँ उड़ आँखो पड़े, पीर घानेरी होय ॥ 2 ॥
माला फेरत जुग भया, फिरा न मन का फेर ।
कर का मन का डार दें, मन का मनका फेर ॥ 3 ॥
गुरु गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पाँय ।
बलिहारी गुरु आपनो, गोविंद दियो बताय ॥ 4 ॥
बलिहारी गुरु आपनो, घड़ी-घड़ी सौ सौ बार ।
मानुष से देवत किया करत न लागी बार ॥ 5 ॥
कबीरा माला मनहि की, और संसारी भीख ।
माला फेरे हरि मिले, गले रहट के देख ॥ 6 ॥
सुख मे सुमिरन ना किया, दु:ख में किया याद ।
कह कबीर ता दास की, कौन सुने फरियाद ॥ 7 ॥
साईं इतना दीजिये, जा मे कुटुम समाय ।
मैं भी भूखा न रहूँ, साधु ना भूखा जाय ॥ 8 ॥
लूट सके तो लूट ले, राम नाम की लूट ।
पाछे फिरे पछताओगे, प्राण जाहिं जब छूट ॥ 9 ॥
जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥ 10 ॥
जहाँ दया तहाँ धर्म है, जहाँ लोभ तहाँ पाप ।
जहाँ क्रोध तहाँ पाप है, जहाँ क्षमा तहाँ आप ॥ 11 ॥
धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय ।
माली सींचे सौ घड़ा, ॠतु आए फल होय ॥ 12 ॥
कबीरा ते नर अन्ध है, गुरु को कहते और ।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रुठै नहीं ठौर ॥ 13 ॥

पाँच पहर धन्धे गया, तीन पहर गया सोय ।
एक पहर हरि नाम बिन, मुक्ति कैसे होय ॥ 14 ॥
कबीरा सोया क्या करे, उठि न भजे भगवान ।
जम जब घर ले जायेंगे, पड़ी रहेगी म्यान ॥ 15 ॥
शीलवन्त सबसे बड़ा, सब रतनन की खान ।
तीन लोक की सम्पदा, रही शील में आन ॥ 16 ॥
माया मरी न मन मरा, मर-मर गए शरीर ।
आशा तृष्णा न मरी, कह गए दास कबीर ॥ 17 ॥
माटी कहे कुम्हार से, तु क्या रौंदे मोय ।
एक दिन ऐसा आएगा, मैं रौंदूंगी तोय ॥ 18 ॥
रात गंवाई सोय के, दिवस गंवाया खाय ।
हीना जन्म अनमोल था, कोड़ी बदले जाय ॥ 19 ॥
नींद निशानी मौत की, उठ कबीरा जाग ।
और रसायन छांड़ि के, नाम रसायन लाग ॥ 20 ॥
जो तोकु कांटा बुवे, ताहि बोय तू फूल ।
तोकू फूल के फूल है, बाकू है त्रिशूल ॥ 21 ॥
दुर्लभ मानुष जन्म है, देह न बारम्बार ।
तरुवर ज्यों पत्ती झड़े, बहुरि न लागे डार ॥ 22 ॥

आय हैं सो जाएँगे, राजा रंक फकीर ।
एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बँधे जात जंजीर ॥ 23 ॥
काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।
पल में प्रलय होएगी, बहुरि करेगा कब ॥ 24 ॥
माँगन मरण समान है, मति माँगो कोई भीख ।
माँगन से तो मरना भला, यह सतगुरु की सीख ॥ 25 ॥
जहाँ आपा तहाँ आपदां, जहाँ संशय तहाँ रोग ।
कह कबीर यह क्यों मिटे, चारों धीरज रोग ॥ 26 ॥
माया छाया एक सी, बिरला जाने कोय ।
भगता के पीछे लगे, सम्मुख भागे सोय ॥ 27 ॥
आया था किस काम को, तु सोया चादर तान ।
सुरत सम्भाल ए गाफिल, अपना आप पहचान ॥ 28 ॥

क्या भरोसा देह का, बिनस जात छिन मांह ।
साँस-सांस सुमिरन करो और यतन कुछ नांह ॥ 29 ॥
गारी ही सों ऊपजे, कलह कष्ट और मींच ।
हारि चले सो साधु है, लागि चले सो नींच ॥ 30 ॥
दुर्बल को न सताइए, जाकि मोटी हाय ।
बिना जीव की हाय से, लोहा भस्म हो जाय ॥ 31 ॥
दान दिए धन ना घते, नदी ने घटे नीर ।
अपनी आँखों देख लो, यों क्या कहे कबीर ॥ 32 ॥
दस द्वारे का पिंजरा, तामे पंछी का कौन ।
रहे को अचरज है, गए अचम्भा कौन ॥ 33 ॥
ऐसी वाणी बोलेए, मन का आपा खोय ।
औरन को शीतल करे, आपहु शीतल होय ॥ 34 ॥
हीरा वहाँ न खोलिये, जहाँ कुंजड़ों की हाट ।
बांधो चुप की पोटरी, लागहु अपनी बाट ॥ 35 ॥
कुटिल वचन सबसे बुरा, जारि कर तन हार ।
साधु वचन जल रूप, बरसे अमृत धार ॥ 36 ॥
जग में बैरी कोई नहीं, जो मन शीतल होय ।
यह आपा तो ड़ाल दे, दया करे सब कोय ॥ 37 ॥
मैं रोऊँ जब जगत को, मोको रोवे न होय ।
मोको रोबे सोचना, जो शब्द बोय की होय ॥ 38 ॥
सोवा साधु जगाइए, करे नाम का जाप ।
यह तीनों सोते भले, साकित सिंह और साँप ॥ 39 ॥
अवगुन कहूँ शराब का, आपा अहमक साथ ।
मानुष से पशुआ करे दाय, गाँठ से खात ॥ 40 ॥
बाजीगर का बांदरा, ऐसा जीव मन के साथ ।
नाना नाच दिखाय कर, राखे अपने साथ ॥ 41 ॥
अटकी भाल शरीर में तीर रहा है टूट ।
चुम्बक बिना निकले नहीं कोटि पटन को फ़ूट ॥ 42 ॥
कबीरा जपना काठ की, क्या दिख्लावे मोय ।
ह्रदय नाम न जपेगा, यह जपनी क्या होय ॥ 43 ॥
पतिवृता मैली, काली कुचल कुरूप ।
पतिवृता के रूप पर, वारो कोटि सरूप ॥ 44 ॥

बैध मुआ रोगी मुआ, मुआ सकल संसार ।
एक कबीरा ना मुआ, जेहि के राम अधार ॥ 45 ॥
हर चाले तो मानव, बेहद चले सो साध ।
हद बेहद दोनों तजे, ताको भता अगाध ॥ 46 ॥
राम रहे बन भीतरे गुरु की पूजा ना आस ।
रहे कबीर पाखण्ड सब, झूठे सदा निराश ॥ 47 ॥
जाके जिव्या बन्धन नहीं, हृदय में नहीं साँच ।
वाके संग न लागिये, खाले वटिया काँच ॥ 48 ॥
तीरथ गये ते एक फल, सन्त मिले फल चार ।
सत्गुरु मिले अनेक फल, कहें कबीर विचार ॥ 49 ॥
सुमरण से मन लाइए, जैसे पानी बिन मीन ।
प्राण तजे बिन बिछड़े, सन्त कबीर कह दीन ॥ 50 ॥
समझाये समझे नहीं, पर के साथ बिकाय ।
मैं खींचत हूँ आपके, तू चला जमपुर जाए ॥ 51 ॥
हंसा मोती विण्न्या, कुञ्च्न थार भराय ।
जो जन मार्ग न जाने, सो तिस कहा कराय ॥ 52 ॥
कहना सो कह दिया, अब कुछ कहा न जाय ।
एक रहा दूजा गया, दरिया लहर समाय ॥ 53 ॥
वस्तु है ग्राहक नहीं, वस्तु सागर अनमोल ।
बिना करम का मानव, फिरैं डांवाडोल ॥ 54 ॥
कली खोटा जग आंधरा, शब्द न माने कोय ।
चाहे कहँ सत आइना, जो जग बैरी होय ॥ 55 ॥
कामी, क्रोधी, लालची, इनसे भक्ति न होय ।
भक्ति करे कोइ सूरमा, जाति वरन कुल खोय ॥ 56 ॥
जागन में सोवन करे, साधन में लौ लाय ।
सूरत डोर लागी रहे, तार टूट नाहिं जाय ॥ 57 ॥
साधु ऐसा चहिए ,जैसा सूप सुभाय ।
सार-सार को गहि रहे, थोथ देइ उड़ाय ॥ 58 ॥
लगी लग्न छूटे नाहिं, जीभ चोंच जरि जाय ।
मीठा कहा अंगार में, जाहि चकोर चबाय ॥ 59 ॥
भक्ति गेंद चौगान की, भावे कोई ले जाय ।
कह कबीर कुछ भेद नाहिं, कहां रंक कहां राय ॥ 60 ॥
घट का परदा खोलकर, सन्मुख दे दीदार ।
बाल सनेही सांइयाँ, आवा अन्त का यार ॥ 61 ॥

अन्तर्यामी एक तुम, आत्मा के आधार ।
जो तुम छोड़ो हाथ तो, कौन उतारे पार ‖ 62 ‖
मैं अपराधी जन्म का, नख-सिख भरा विकार ।
तुम दाता दु:ख भंजना, मेरी करो सम्हार ‖ 63 ‖
प्रेम न बड़ी ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय ।
राजा-प्रजा जोहि रुचें, शीश देई ले जाय ‖ 64 ‖
प्रेम प्याला जो पिये, शीश दक्षिणा देय ।
लोभी शीश न दे सके, नाम प्रेम का लेय ‖ 65 ‖
सुमिरन में मन लाइए, जैसे नाद कुरंग ।
कहैं कबीर बिसरे नहीं, प्रान तजे तेहि संग ‖ 66 ‖
सुमरित सुरत जगाय कर, मुख के कछु न बोल ।
बाहर का पट बन्द कर, अन्दर का पट खोल ‖ 67 ‖
छीर रूप सतनाम है, नीर रूप व्यवहार ।
हंस रूप कोई साधु है, सत का छाननहार ‖ 68 ‖
ज्यों तिल मांही तेल है, ज्यों चकमक में आग ।
तेरा सांई तुझमें, बस जाग सके तो जाग ‖ 69 ‖
जा करण जग ढूँढ़िया, सो तो घट ही मांहि ।
परदा दिया भरम का, ताते सूझे नाहिं ‖ 70 ‖
जबही नाम हिरदे घरा, भया पाप का नाश ।
मानो चिंगरी आग की, परी पुरानी घास ‖ 71 ‖
नहीं शीतल है चन्द्रमा, हिंम नहीं शीतल होय ।
कबीरा शीतल सन्त जन, नाम सनेही सोय ‖ 72 ‖
आहार करे मन भावता, इंदी किए स्वाद ।
नाक तलक पूरन भरे, तो का कहिए प्रसाद ‖ 73 ‖
जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय ।
नाता तोड़े हरि भजे, भगत कहावें सोय ‖ 74 ‖
जल ज्यों प्यारा माहरी, लोभी प्यारा दाम ।
माता प्यारा बारका, भगति प्यारा नाम ‖ 75 ‖
दिल का मरहम ना मिला, जो मिला सो गर्जी ।
कह कबीर आसमान फटा, क्योंकर सीवे दर्जी ‖ 76 ‖
बानी से पह्चानिये, साम चोर की घात ।
अन्दर की करनी से सब, निकले मुँह कई बात ‖ 77 ‖
जब लगि भगति सकाम है, तब लग निष्फल सेव ।
कह कबीर वह क्यों मिले, निष्कामी तज देव ‖ 78 ‖

फूटी आँख विवेक की, लखे ना सन्त असन्त ।
जाके संग दस-बीस हैं, ताको नाम महन्त ॥ 79 ॥
दाया भाव ह्रदय नहीं, ज्ञान थके बेहद ।
ते नर नरक ही जायेंगे, सुनि-सुनि साखी शब्द ॥ 80 ॥
दाया कौन पर कीजिये, का पर निर्दय होय ।
सांई के सब जीव है, कीरी कुंजर दोय ॥ 81 ॥
जब मैं था तब गुरु नहीं, अब गुरु हैं मैं नाय ।
प्रेम गली अति साँकरी, ता मे दो न समाय ॥ 82 ॥
छिन ही चढ़े छिन ही उतरे, सो तो प्रेम न होय ।
अघट प्रेम पिंजरे बसे, प्रेम कहावे सोय ॥ 83 ॥
जहाँ काम तहाँ नाम नहिं, जहाँ नाम नहिं वहाँ काम ।
दोनों कबहूँ नहिं मिले, रवि रजनी इक धाम ॥ 84 ॥
कबीरा धीरज के धरे, हाथी मन भर खाय ।
टूट एक के कारने, स्वान घरै घर जाय ॥ 85 ॥
ऊँचे पानी न टिके, नीचे ही ठहराय ।
नीचा हो सो भरिए पिए, ऊँचा प्यासा जाय ॥ 86 ॥
सबते लघुताई भली, लघुता ते सब होय ।
जौसे दूज का चन्द्रमा, शीश नवे सब कोय ॥ 87 ॥
संत ही में सत बांटई, रोटी में ते टूक ।
कहे कबीर ता दास को, कबहूँ न आवे चूक ॥ 88 ॥

मार्ग चलते जो गिरा, ताकों नाहि दोष ।
यह कबिरा बैठा रहे, तो सिर करड़े दोष ॥ 89 ॥
जब ही नाम ह्रदय धरयो, भयो पाप का नाश ।
मानो चिनगी अग्नि की, परि पुरानी घास ॥ 90 ॥
काया काठी काल घुन, जतन-जतन सो खाय ।
काया वैध ईश बस, मर्म न काहू पाय ॥ 91 ॥
सुख सागर का शील है, कोई न पावे थाह ।
शब्द बिना साधु नही, द्रव्य बिना नहीं शाह ॥ 92 ॥
बाहर क्या दिखलाए, अनन्तर जपिए राम ।
कहा काज संसार से, तुझे धनी से काम ॥ 93 ॥
फल कारण सेवा करे, करे न मन से काम ।
कहे कबीर सेवक नहीं, चहै चौगुना दाम ॥ 94 ॥

तेरा साँई तुझमें, ज्यों पहुपन में बास ।
कस्तूरी का हिरन ज्यों, फिर-फिर ढ़ूँढ़त घास ॥ 95 ॥
कथा-कीर्तन कुल विशे, भवसागर की नाव ।
कहत कबीरा या जगत में नाहि और उपाव ॥ 96 ॥
कबिरा यह तन जात है, सके तो ठौर लगा ।
कै सेवा कर साधु की, कै गोविंद गुन गा ॥ 97 ॥
तन बोहत मन काग है, लक्ष योजन उड़ जाय ।
कबहु के धर्म अगम दयी, कबहुं गगन समाय ॥ 98 ॥
जहँ गाहक ता हूँ नहीं, जहाँ मैं गाहक नाँय ।
मूरख यह भरमत फिरे, पकड़ शब्द की छाँय ॥ 99 ॥

कहता तो बहुत मिला, गहता मिला न कोय ।
सो कहता वह जान दे, जो नहिं गहता होय ॥ 100 ॥
तब लग तारा जगमगे, जब लग उगे न सूर ।
तब लग जीव जग कर्मवश, ज्यों लग ज्ञान न पूर ॥ 101 ॥
आस पराई राख्त, खाया घर का खेत ।
औरन को प्त बोधता, मुख में पड़ रेत ॥ 102 ॥
सोना, सज्जन, साधु जन, टूट जुड़ै सौ बार ।
दुर्जन कुम्भ कुम्हार के, ऐके धका दरार ॥ 103 ॥
सब धरती कारज करूँ, लेखनी सब बनराय ।
सात समुद्र की मसि करूँ गुरुगुन लिखा न जाय ॥ 104 ॥
बलिहारी वा दूध की, जामे निकसे घीव ।
घी साखी कबीर की, चार वेद का जीव ॥ 105 ॥
आग जो लागी समुद्र में, धुआँ न प्रकट होय ।
सो जाने जो जरमुआ, जाकी लाई होय ॥ 106 ॥
साधु गाँठि न बाँधई, उदर समाता लेय ।
आगे-पीछे हरि खड़े जब भोगे तब देय ॥ 107 ॥
घट का परदा खोलकर, सन्मुख दे दीदार ।
बाल सने ही सांइया, आवा अन्त का यार ॥ 108 ॥
कबिरा खालिक जागिया, और ना जागे कोय ।
जाके विषय विष भरा, दास बन्दगी होय ॥ 109 ॥
ऊँचे कुल में जामिया, करनी ऊँच न होय ।
सौरन कलश सुरा, भरी, साधु निन्दा सोय ॥ 110 ॥

सुमरण की सुब्यों करो ज्यों गागर पनिहार ।
होले-होले सुरत में, कहैं कबीर विचार ॥ 111 ॥
सब आए इस एक में, डाल-पात फल-फूल ।
कबिरा पीछा क्या रहा, गह पकड़ी जब मूल ॥ 112 ॥
जो जन भीगे रामरस, विगत कबहूँ ना रूख ।
अनुभव भाव न दरसते, ना दु:ख ना सुख ॥ 113 ॥
सिंह अकेला बन रहे, पलक-पलक कर दौर ।
जैसा बन है आपना, तैसा बन है और ॥ 114 ॥
यह माया है चूहड़ी, और चूहड़ा कीजो ।
बाप-पूत उरभाय के, संग ना काहो केहो ॥ 115 ॥
जहर की जर्मी में है रोपा, अभी खींचे सौ बार ।
कबिरा खलक न तजे, जामे कौन विचार ॥ 116 ॥
जग मे बैरी कोई नहीं, जो मन शीतल होय ।
यह आपा तो डाल दे, दया करे सब कोय ॥ 117 ॥
जो जाने जीव न आपना, करहीं जीव का सार ।
जीवा ऐसा पाहौना, मिले ना दूजी बार ॥ 118 ॥
कबीर जात पुकारया, चढ़ चन्दन की डार ।
बाट लगाए ना लगे फिर क्या लेत हमार ॥ 119 ॥
लोग भरोसे कौन के, बैठे रहें उरगाय ।
जीय रही लूटत जम फिरे, मैँढ़ा लुटे कसाय ॥ 120 ॥
एक कहूँ तो है नहीं, दूजा कहूँ तो गार ।
है जैसा तैसा हो रहे, रहें कबीर विचार ॥ 121 ॥
जो तु चाहे मुक्त को, छोड़े दे सब आस ।
मुक्त ही जैसा हो रहे, बस कुछ तेरे पास ॥ 122 ॥
साँई आगे साँच है, साँई साँच सुहाय ।
चाहे बोले केस रख, चाहे घौंट भुण्डाय ॥ 123 ॥
अपने-अपने साख की, सबही लीनी मान ।
हरि की बातें दुरन्तरा, पूरी ना कहूँ जान ॥ 124 ॥
खेत ना छोड़े सूरमा, जूझे दो दल मोह ।
आशा जीवन मरण की, मन में राखें नोह ॥ 125 ॥
लीक पुरानी को तजें, कायर कुटिल कपूत ।
लीख पुरानी पर रहें, शातिर सिंह सपूत ॥ 126 ॥
सन्त पुरुष की आरसी, सन्तों की ही देह ।
लखा जो चहे अलख को, उन्हीं में लख लेह ॥ 127 ॥

भूखा-भूखा क्या करे, क्या सुनावे लोग ।
भांडा घड़ निज मुख दिया, सोई पूर्ण जोग ॥ 128 ॥
गर्भ योगेश्वर गुरु बिना, लागा हर का सेव ।
कहे कबीर बैकुण्ठ से, फेर दिया शुक्देव ॥ 129 ॥
प्रेमभाव एक चाहिए, भेष अनेक बनाय ।
चाहे घर में वास कर, चाहे बन को जाय ॥ 130 ॥
कांचे भाडें से रहे, ज्यों कुम्हार का देह ।
भीतर से रक्षा करे, बाहर चोई देह ॥ 131 ॥
साँई ते सब होते है, बन्दे से कुछ नाहिं ।
राई से पर्वत करे, पर्वत राई माहिं ॥ 132 ॥
केतन दिन ऐसे गए, अन रुचे का नेह ।
अवसर बोवे उपजे नहीं, जो नहीं बरसे मेह ॥ 133 ॥
एक ते अनन्त अन्त एक हो जाय ।
एक से परचे भया, एक मोह समाय ॥ 134 ॥
साधु सती और सूरमा, इनकी बात अगाध ।
आशा छोड़े देह की, तन की अनथक साध ॥ 135 ॥
हरि संगत शीतल भया, मिटी मोह की ताप ।
निशिवासर सुख निधि, लहा अन्न प्रगटा आप ॥ 136 ॥
आशा का ईंधन करो, मनशा करो बभूत ।
जोगी फेरी यों फिरो, तब वन आवे सूत ॥ 137 ॥
आग जो लगी समुद्र में, धुआँ ना प्रकट होय ।
सो जाने जो जरमुआ, जाकी लाई होय ॥ 138 ॥
अटकी भाल शरीर में, तीर रहा है टूट ।
चुम्बक बिना निकले नहीं, कोटि पठन को फूट ॥ 139 ॥
अपने-अपने साख की, सब ही लीनी भान ।
हरि की बात दुरन्तरा, पूरी ना कहूँ जान ॥ 140 ॥
आस पराई राखता, खाया घर का खेत ।
औरन को पथ बोधता, मुख में डारे रेत ॥ 141 ॥
आवत गारी एक है, उलटन होय अनेक ।
कह कबीर नहिं उलटिये, वही एक की एक ॥ 142 ॥
आहार करे मनभावता, इंद्री की स्वाद ।
नाक तलक पूरन भरे, तो कहिए कौन प्रसाद ॥ 143 ॥
आए हैं सो जाएँगे, राजा रंक फकीर ।
एक सिंहासन चढ़ि चले, एक बाँधि जंजीर ॥ 144 ॥

आया था किस काम को, तू सोया चादर तान ।
सूरत सँभाल ए काफिला, अपना आप पह्चान ॥ 145 ॥
उज्जवल पहरे कापड़ा, पान-सुपरी खाय ।
एक हरि के नाम बिन, बाँधा यमपुर जाय ॥ 146 ॥
उतते कोई न आवई, पासू पूछूँ धाय ।
इतने ही सब जात है, भार लदाय लदाय ॥ 147 ॥
अवगुन कहूँ शराब का, आपा अहमक होय ।
मानुष से पशुआ भया, दाम गाँठ से खोय ॥ 148 ॥
एक कहूँ तो है नहीं, दूजा कहूँ तो गार ।
है जैसा तैसा रहे, रहे कबीर विचार ॥ 149 ॥
ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोए ।
औरन को शीतल करे, आपौ शीतल होय ॥ 150 ॥
कबीरा संग्ङति साधु की, जौ की भूसी खाय ।
खीर खाँड़ भोजन मिले, ताकर संग न जाय ॥ 151 ॥
एक ते जान अनन्त, अन्य एक हो आय ।
एक से परचे भया, एक बाहे समाय ॥ 152 ॥
कबीरा गरब न कीजिए, कबहूँ न हँसिये कोय ।
अजहूँ नाव समुद्र में, ना जाने का होय ॥ 153 ॥
कबीरा कलह अरु कल्पना, सतसंगति से जाय ।
दुख बासे भागा फिरै, सुख में रहै समाय ॥ 154 ॥
कबीरा संगति साधु की, जित प्रीत कीजै जाय ।
दुर्गति दूर वहावति, देवी सुमति बनाय ॥ 155 ॥
कबीरा संगत साधु की, निष्फल कभी न होय ।
होमी चन्दन बासना, नीम न कहसी कोय ॥ 156 ॥
को छूटौ इहिं जाल परि, कत फुरंग अकुलाय ।
ज्यों-ज्यों सुरझि भजौ चहै, त्यों-त्यों उरझत जाय ॥ 157 ॥
कबीरा सोया क्या करे, उठि न भजे भगवान ।
जम जब घर ले जाएँगे, पड़ा रहेगा म्यान ॥ 158 ॥
काह भरोसा देह का, बिनस जात छिन मारहिं ।
साँस-साँस सुमिरन करो, और यतन कछु नाहिं ॥ 159 ॥
काल करे से आज कर, सबहि सात तुव साथ ।
काल काल तू क्या करे काल काल के हाथ ॥ 160 ॥
काया काढ़ा काल घुन, जतन-जतन सो खाय ।
काया बह्रा ईश बस, मर्म न काहूँ पाय ॥ 161 ॥

कहा कियो हम आय कर, कहा करेंगे पाय ।
इनके भये न उतके, चाले मूल गवाय ॥ 162 ॥
कुटिल बचन सबसे बुरा, जासे होत न हार ।
साधु वचन जल रूप है, बरसे अम्रत धार ॥ 163 ॥
कहता तो बहूँना मिले, गहना मिला न कोय ।
सो कहता वह जान दे, जो नहीं गहना कोय ॥ 164 ॥
कबीरा मन पँछी भया, भये ते बाहर जाय ।
जो जैसे संगति करै, सो तैसा फल पाय ॥ 165 ॥
कबीरा लोहा एक है, गढ़ने में है फेर ।
ताहि का बखतर बने, ताहि की शमशेर ॥ 166 ॥
कहे कबीर देय तू, जब तक तेरी देह ।
देह खेह हो जाएगी, कौन कहेगा देह ॥ 167 ॥
करता था सो क्यों किया, अब कर क्यों पछिताय ।
बोया पेड़ बबूल का, आम कहाँ से खाय ॥ 168 ॥
कस्तूरी कुन्डल बसे, म्रग ढ़ूंढ़े बन माहिं ।
ऐसे घट-घट राम है, दुनिया देखे नाहिं ॥ 169 ॥
कबीरा सोता क्या करे, जागो जपो मुरार ।
एक दिना है सोवना, लांबे पाँव पसार ॥ 170 ॥
कागा काको घन हरे, कोयल काको देय ।
मीठे शब्द सुनाय के, जग अपनो कर लेय ॥ 171 ॥
कबिरा सोई पीर है, जो जा नैं पर पीर ।
जो पर पीर न जानइ, सो काफिर के पीर ॥ 172 ॥

कबिरा मनहि गयन्द है, आकुंश दै-दै राखि ।
विष की बेली परि रहै, अम्रत को फल चाखि ॥ 173 ॥
कबीर यह जग कुछ नहीं, खिन खारा मीठ ।
काल्ह जो बैठा भण्डपै, आज भसाने दीठ ॥ 174 ॥
कबिरा आप ठगाइए, और न ठगिए कोय ।
आप ठगे सुख होत है, और ठगे दुख होय ॥ 175 ॥
कथा कीर्तन कुल विशे, भव सागर की नाव ।
कहत कबीरा या जगत, नाहीं और उपाय ॥ 176 ॥
कबिरा यह तन जात है, सके तो ठौर लगा ।
कै सेवा कर साधु की, कै गोविंद गुनगा ॥ 177 ॥

कलि खोटा सजग आंधरा, शब्द न माने कोय ।
चाहे कहूँ सत आइना, सो जग बैरी होय ॥ 178 ॥
केतन दिन ऐसे गए, अन रुचे का नेह ।
अवसर बोवे उपजे नहीं, जो नहिं बरसे मेह ॥ 179 ॥
कबीर जात पुकारया, चढ़ चन्दन की डार ।
वाट लगाए ना लगे फिर क्या लेत हमार ॥ 180 ॥
कबीरा खालिक जागिया, और ना जागे कोय ।
जाके विषय विष भरा, दास बन्दगी होय ॥ 181 ॥
गाँठि न थामहिं बाँध ही, नहिं नारी सो नेह ।
कह कबीर वा साधु की, हम चरनन की खेह ॥ 182 ॥
खेत न छोड़े सूरमा, जूझे को दल माँह ।
आशा जीवन मरण की, मन में राखे नाँह ॥ 183 ॥
चन्दन जैसा साधु है, सर्पहि सम संसार ।
वाके अग्ङ लपटा रहे, मन मे नाहिं विकार ॥ 184 ॥
घी के तो दर्शन भले, खाना भला न तेल ।
दाना तो दुश्मन भला, मूरख का क्या मेल ॥ 185 ॥
गारी ही सो ऊपजे, कलह कष्ट और भींच ।
हारि चले सो साधु हैं, लागि चले तो नीच ॥ 186 ॥
चलती चक्की देख के, दिया कबीरा रोय ।
दुइ पट भीतर आइके, साबित बचा न कोय ॥ 187 ॥
जा पल दरसन साधु का, ता पल की बलिहारी ।
राम नाम रसना बसे, लीजै जनम सुधारि ॥ 188 ॥
जब लग भक्ति से काम है, तब लग निष्फल सेव ।
कह कबीर वह क्यों मिले, निःकामा निज देव ॥ 189 ॥
जो तोकूं काँटा बुवै, ताहि बोय तू फूल ।
तोकू फूल के फूल है, बाँकू है तिरशूल ॥ 190 ॥
जा घट प्रेम न संचरे, सो घट जान समान ।
जैसे खाल लुहार की, साँस लेतु बिन प्रान ॥ 191 ॥
ज्यों नैनन में पूतली, त्यों मालिक घर माहिं ।
मूर्ख लोग न जानिए, बहर ढूंढ़त जांहि ॥ 192 ॥
जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप ।
पुछुप बास तें पामरा, ऐसा तत्व अनूप ॥ 193 ॥
जहाँ आप तहाँ आपदा, जहाँ संशय तहाँ रोग ।
कह कबीर यह क्यों मिटैं, चारों बाधक रोग ॥ 194 ॥

जाति न पूछो साधु की, पूछि लीजिए ज्ञान ।
मोल करो तलवार का, पड़ा रहन दो म्यान ॥ 195 ॥
जल की जमी में है रोपा, अभी सींचें सौ बार ।
कबिरा खलक न तजे, जामे कौन वोचार ॥ 196 ॥
जहाँ ग्राहक तँह मैं नहीं, जँह मैं गाहक नाय ।
बिको न यक भरमत फिरे, पकड़ी शब्द की छाँय ॥ 197 ॥
झूठे सुख को सुख कहै, मानता है मन मोद ।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद ॥ 198 ॥
जो तु चाहे मुक्ति को, छोड़ दे सबकी आस ।
मुक्त ही जैसा हो रहे, सब कुछ तेरे पास ॥ 199 ॥
जो जाने जीव आपना, करहीं जीव का सार ।
जीवा ऐसा पाहौना, मिले न दीजी बार ॥ 200 ॥
ते दिन गये अकारथी, संगत भई न संत ।
प्रेम बिना पशु जीवना, भक्ति बिना भगवंत ॥ 201 ॥
तीर तुपक से जो लड़े, सो तो शूर न होय ।
माया तजि भक्ति करे, सूर कहावै सोय ॥ 202 ॥
तन को जोगी सब करे, मन को बिरला कोय ।
सहजै सब विधि पाइये, जो मन जोगी होय ॥ 203 ॥
तब लग तारा जगमगे, जब लग उगे नसूर ।
तब लग जीव जग कर्मवश, जब लग ज्ञान ना पूर ॥ 204 ॥
दुर्लभ मानुष जनम है, देह न बारम्बार ।
तरुवर ज्यों पत्ती झड़े, बहुरि न लागे डार ॥ 205 ॥
दस द्वारे का पींजरा, तामें पंछी मौन ।
रहे को अचरज भयौ, गये अचम्भा कौन ॥ 206 ॥
धीरे-धीरे रे मना, धीरे सब कुछ होय ।
माली सीचें सौ घड़ा, ॠतु आए फल होय ॥ 207 ॥
न्हाये धोये क्या हुआ, जो मन मैल न जाय ।
मीन सदा जल में रहै, धोये बास न जाय ॥ 208 ॥
पाँच पहर धन्धे गया, तीन पहर गया सोय ।
एक पहर भी नाम बीन, मुक्ति कैसे होय ॥ 209 ॥
पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय ।
ढ़ाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंड़ित होय ॥ 210 ॥
पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात ।
देखत ही छिप जाएगा, ज्यों सारा परभात ॥ 211 ॥

पाहन पूजे हरि मिलें, तो मैं पूजौं पहार ।
याते ये चक्की भली, पीस खाय संसार ॥ 212 ॥
पत्ता बोला वृक्ष से, सुनो वृक्ष बनराय ।
अब के बिछुड़े ना मिले, दूर पड़ेंगे जाय ॥ 213 ॥
प्रेमभाव एक चाहिए, भेष अनेक बजाय ।
चाहे घर में बास कर, चाहे बन मे जाय ॥ 214 ॥
बन्धे को बँनधा मिले, छूटे कौन उपाय ।
कर संगति निरबन्ध की, पल में लेय छुड़ाय ॥ 215 ॥
बूँद पड़ी जो समुद्र में, ताहि जाने सब कोय ।
समुद्र समाना बूँद में, बूझै बिरला कोय ॥ 216 ॥
बाहर क्या दिखराइये, अन्तर जपिए राम ।
कहा काज संसार से, तुझे धनी से काम ॥ 217 ॥
बानी से पहचानिए, साम चोर की घात ।
अन्दर की करनी से सब, निकले मुँह की बात ॥ 218 ॥
बड़ा हुआ सो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर ।
पँछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर ॥ 219 ॥
मूँड़ मुड़ाये हरि मिले, सब कोई लेय मुड़ाय ।
बार-बार के मुड़ते, भेड़ न बैकुण्ठ जाय ॥ 220 ॥
माया तो ठगनी बनी, ठगत फिरे सब देश ।
जा ठग ने ठगनी ठगो, ता ठग को आदेश ॥ 221 ॥
भज दीना कहूँ और ही, तन साधुन के संग ।
कहैं कबीर कारी गजी, कैसे लागे रंग ॥ 222 ॥
माया छाया एक सी, बिरला जाने कोय ।
भागत के पीछे लगे, सन्मुख भागे सोय ॥ 223 ॥
मथुरा भावै द्वारिका, भावे जो जगन्नाथ ।
साधु संग हरि भजन बिनु, कछु न आवे हाथ ॥ 224 ॥
माली आवत देख के, कलियान करी पुकार ।
फूल-फूल चुन लिए, काल हमारी बार ॥ 225 ॥
मैं रोऊँ सब जगत् को, मोको रोवे न कोय ।
मोको रोवे सोचना, जो शब्द बोय की होय ॥ 226 ॥
ये तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारे भुँई धरे, तब बैठें घर माहिं ॥ 227 ॥
या दुनियाँ में आ कर, छाँड़ि देय तू ऐंठ ।
लेना हो सो लेइले, उठी जात है पैंठ ॥ 228 ॥

राम नाम चीन्हा नहीं, कीना पिंजर बास ।
नैन न आवे नीदरौं, अलग न आवे भास ॥ 229 ॥
रात गंवाई सोय के, दिवस गंवाया खाय ।
हीरा जन्म अनमोल था, कौंड़ी बदले जाए ॥ 230 ॥
राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय ।
जो सुख साधु सगं में, सो बैकुंठ न होय ॥ 231 ॥
संगति सों सुख्या ऊपजे, कुसंगति सो दुख होय ।
कह कबीर तहँ जाइये, साधु संग जहँ होय ॥ 232 ॥
साहिब तेरी साहिबी, सब घट रही समाय ।
ज्यों मेहँदी के पात में, लाली रखी न जाय ॥ 233 ॥
साँझ पड़े दिन बीतबै, चकवी दीन्ही रोय ।
चल चकवा वा देश को, जहाँ रैन नहिं होय ॥ 234 ॥
संह ही मे सत बाँटे, रोटी में ते टूक ।
कहे कबीर ता दास को, कबहुँ न आवे चूक ॥ 235 ॥
साईं आगे साँच है, साईं साँच सुहाय ।
चाहे बोले केस रख, चाहे घौंट मुण्डाय ॥ 236 ॥
लकड़ी कहै लुहार की, तू मति जारे मोहिं ।
एक दिन ऐसा होयगा, मैं जारौंगी तोहि ॥ 237 ॥
हरिया जाने रुखड़ा, जो पानी का गेह ।
सूखा काठ न जान ही, केतुउ बूड़ा मेह ॥ 238 ॥
ज्ञान रतन का जतनकर माटी का संसार ।
आय कबीर फिर गया, फीका है संसार ॥ 239 ॥
ॠद्धि सिद्धि माँगो नहीं, माँगो तुम पै येह ।
निसि दिन दरशन शाधु को, प्रभु कबीर कहुँ देह ॥ 240 ॥
क्षमा बड़े न को उचित है, छोटे को उत्पात ।
कहा विष्णु का घटि गया, जो भुगु मारीलात ॥ 241 ॥
राम-नाम कै पटं तरै, देबे कौं कुछ नाहिं ।
क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माहिं ॥ 242 ॥

बलिहारी गुर आपणौ, घौंहाड़ी कै बार ।
जिनि भानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥ 243 ॥
ना गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव ।
दुन्यू बूड़े धार में, चढ़ि पाथर की नाव ॥ 244 ॥

सतगुर हम सूं रीझि करि, एक कहमा कर संग ।
बरस्या बादल प्रेम का, भींजि गया अब अंग ॥ 245 ॥
कबीर सतगुर ना मिल्या, रही अधूरी सीष ।
स्वाँग जती का पहरि करि, धरि-धरि माँगे भीष ॥ 246 ॥
यह तन विष की बेलरी, गुरु अमृत की खान ।
सीस दिये जो गुरु मिलै, तो भी सस्ता जान ॥ 247 ॥
तू तू करता तू भया, मुझ में रही न हूँ ।
वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तू ॥ 248 ॥
राम पियारा छांड़ि करि, करै आन का जाप ।
बेस्या केरा पूतं ज्यूं, कहै कौन सू बाप ॥ 249 ॥
कबीरा प्रेम न चषिया, चषि न लिया साव ।
सूने घर का पांहुणां, ज्यूं आया त्यूं जाव ॥ 250 ॥
कबीरा राम रिझाइ लै, मुखि अमृत गुण गाइ ।
फूटा नग ज्यूं जोड़ि मन, संधे संधि मिलाइ ॥ 251 ॥
लंबा मारग, दूरिधर, विकट पंथ, बहुमार ।
कहौ संतो, क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि-दीदार ॥ 252 ॥
बिरह-भुवगम तन बसै मंत्र न लागै कोइ ।
राम-बियोगी ना जिवै जिवै तो बौरा होइ ॥ 253 ॥

यह तन जालों मसि करों, लिखों राम का नाउं ।
लेखणि करूं करंक की, लिखी-लिखी राम पठाउं ॥ 254 ॥
अंदेसड़ा न भाजिसी, सदैसो कहियां ।
के हरि आयां भाजिसी, कैहरि ही पास गयां ॥ 255 ॥
इस तन का दीवा करौ, बाती मेल्यूं जीवउं ।
लोही सींचो तेल ज्यूं, कब मुख देख पठिउं ॥ 256 ॥
अंषड़ियां झाईं पड़ी, पंथ निहारि-निहारि ।
जीभड़ियाँ छाला पड़या, राम पुकारि-पुकारि ॥ 257 ॥
सब रग तंत रबाब तन, बिरह बजावै नित्त ।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं के चित्त ॥ 258 ॥
जो रोऊँ तो बल घटै, हँसो तो राम रिसाइ ।
मन ही माहिं बिसूरणा, ज्यूँ घुँण काठहिं खाइ ॥ 259 ॥
कबीर हँसणाँ दूरि करि, करि रोवण सौ चित्त ।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्व ॥ 260 ॥

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवे ।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रौवे ॥ 261 ॥
परबति परबति मैं फिरया, नैन गंवाए रोइ ।
सो बूटी पाऊँ नहीं, जातैं जीवनि होइ ॥ 262 ॥
पूत पियारौ पिता कौं, गौहनि लागो घाइ ।
लोभ-मिठाई हाथ दे, आपण गयो भुलाइ ॥ 263 ॥
हाँसी खैलो हरि मिलै, कौण सहै षरसान ।
काम क्रोध त्रिष्णं तजै, तोहि मिलै भगवान ॥ 264 ॥

जा कारणि में ढूँढ़ती, सनमुख मिलिया आइ ।
धन मैली पिव ऊजला, लागि न सकौं पाइ ॥ 265 ॥
पहुँचेंगे तब कहैगें, उमड़ैंगे उस ठांई ।
आजहूं बेरा समंद मैं, बोलि बिगू पैं काई ॥ 266 ॥
दीठा है तो कस कहूं, कह्मा न को पतियाइ ।
हरि जैसा है तैसा रहो, तू हरिष-हरिष गुण गाइ ॥ 267 ॥
भारी कहौं तो बहुडरौं, हलका कहूं तौ झूठ ।
मैं का जाणी राम कूं नैनूं कबहूं न दीठ ॥ 268 ॥
कबीर एक न जाण्यां, तो बहु जाण्यां क्या होइ ।
एक तै सब होत है, सब तैं एक न होइ ॥ 269 ॥
कबीर रेख स्यंदूर की, काजल दिया न जाइ ।
नैनूं रमैया रमि रह्मा, दूजा कहाँ समाइ ॥ 270 ॥
कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं ।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचे तित जाउं ॥ 271 ॥
कबीर कलिजुग आइ करि, कीये बहुत जो भीत ।
जिन दिल बांध्या एक सूं, ते सुख सोवै निचींत ॥ 272 ॥
जब लग भगहित सकामता, सब लग निर्फल सेव ।
कहै कबीर वै क्यूँ मिलै निह्कामी निज देव ॥ 273 ॥
पतिबरता मैली भली, गले कांच को पोत ।
सब सखियन में यों दिपै, ज्यों रवि ससि को जोत ॥ 274 ॥
कामी अभी न भावई, विष ही कौं ले सोधि ।
कुबुध्दि न जीव की, भावै स्यंभ रहौ प्रमोथि ॥ 275 ॥

भगति बिगाड़ी कामियां, इन्द्री केरै स्वादि ।
हीरा खोया हाथ थैं, जनम गँवाया बादि ॥ 276 ॥

परनारी का राचणौ, जिसकी लहसण की खानि ।
खूणैं बेसिर खाइय, परगट होइ दिवानि ॥ 277 ॥
परनारी राता फिरैं, चोरी बिढ़िता खाहिं ।
दिवस चारि सरसा रहै, अति समूला जाहिं ॥ 288 ॥
ग्यानी मूल गँवाइया, आपण भये करना ।
ताथैं संसारी भला, मन मैं रहै डरना ॥ 289 ॥
कामी लज्जा ना करै, न माहें अहिलाद ।
नींद न माँगै साँथरा, भूख न माँगे स्वाद ॥ 290 ॥
कलि का स्वामी लोभिया, पीतलि घरी खटाइ ।
राज-दुबारा यौं फिरै, ज्यँ हरिहाई गाइ ॥ 291 ॥
स्वामी हूवा सीतका, पैलाकार पचास ।
राम-नाम काठें रह्मा, करै सिषां की आंस ॥ 292 ॥
इहि उदर के कारणे, जग पाच्यो निस जाम ।
स्वामी-पणौ जो सिरि चढ़यो, सिर यो न एको काम ॥ 293 ॥
ब्राह्म्ण गुरु जगत् का, साधू का गुरु नाहिं ।
उरझि-पुरझि करि भरि रह्मा, चारिउं बेदा मांहि ॥ 294 ॥
कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोइ ।
लालच लोभी मसकरा, तिनकूँ आदर होइ ॥ 295 ॥
कलि का स्वमी लोभिया, मनसा घरी बधाई ।
दैंहि पईसा ब्याज़ को, लेखां करता जाई ॥ 296 ॥

कबीर इस संसार कौ, समझाऊँ कै बार ।
पूँछ जो पकड़ै भेड़ की उतर या चाहे पार ॥ 297 ॥
तीरथ करि-करि जग मुवा, डूंधै पाणी न्हाइ ।
रामहि राम जपतंडां, काल घसीटया जाइ ॥ 298 ॥
चतुराई सूवै पढ़ी, सोइ पंजर मांहि ।
फिरि प्रमोधै आन कौं, आपण समझे नाहिं ॥ 299 ॥
कबीर मन फूल्या फिरै, करता हूँ मैं घ्रंम ।
कोटि क्रम सिरि ले चल्या, चेत न देखै भ्रम ॥ 300 ॥
सबै रसाइण मैं क्रिया, हरि सा और न कोई ।
तिल इक घर मैं संचरे, तौ सब तन कंचन होई ॥ 301 ॥
हरि-रस पीया जाणिये, जे कबहुँ न जाइ खुमार ।
मैमता घूमत रहै, नाहि तन की सार ॥ 302 ॥

कबीर हरि-रस यौं पिया, बाकी रही न थाकि ।
पाका कलस कुंभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि ॥ 303 ॥
कबीर भाठी कलाल की, बहुतक बैठे आई ।
सिर सौंपे सोई पिवै, नहीं तौ पिया न जाई ॥ 304 ॥
त्रिक्षणा सींची ना बुझै, दिन दिन बधती जाइ ।
जवासा के रुष ज्यूं, घण मेहां कुमिलाइ ॥ 305 ॥
कबीर सो घन संचिये, जो आगे कू होइ ।
सीस चढ़ाये गाठ की जात न देख्या कोइ ॥ 306 ॥
कबीर माया मोहिनी, जैसी मीठी खांड़ ।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं तौ करती भांड़ ॥ 307 ॥

कबीर माया पापरगी, फंध ले बैठी हाटि ।
सब जग तौ फंधै पड़्या, गया कबीर काटि ॥ 308 ॥
कबीर जग की जो कहै, भौ जलि बूड़ै दास ।
पारब्रह्म पति छांड़ि करि, करै मानि की आस ॥ 309 ॥
बुगली नीर बिटालिया, सायर चढ़या कलंक ।
और पखेरू पी गये, हंस न बौवे चंच ॥ 310 ॥
कबीर इस संसार का, झूठा माया मोह ।
जिहि धारि जिता बाधावणा, तिहीं तिता अंदोह ॥ 311 ॥
माया तजी तौ क्या भया, मानि तजि नही जाइ ।
मानि बड़े मुनियर मिले, मानि सबनि को खाइ ॥ 312 ॥
करता दीसै कीरतन, ऊँचा करि करि तुंड ।
जाने-बूझै कुछ नहीं, यौं ही अंधा रुंड ॥ 313 ॥
कबीर पढ़ियो दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ ।
बावन आषिर सोधि करि, ररै मर्मे चित्त लाइ ॥ 314 ॥
मैं जाण्यूँ पाढ़िबो भलो, पाढ़िबा थे भलो जोग ।
राम-नाम सूं प्रीती करि, भल भल नींयो लोग ॥ 315 ॥
पद गाएं मन हरषियां, साषी कह्मां अनंद ।
सो तत नांव न जाणियां, गल में पड़िया फंद ॥ 316 ॥
जैसी मुख तै नीकसै, तैसी चाले चाल ।
पार ब्रह्म नेड़ा रहै, पल में करै निहाल ॥ 317 ॥
काजी-मुल्ला भ्रमियां, चल्या युनीं कै साथ ।
दिल थे दीन बिसारियां, करद लई जब हाथ ॥ 318 ॥

प्रेम-प्रिति का चालना, पहिरि कबीरा नाच ।
तन-मन तापर वारहुँ, जो कोइ बौलौ सांच ॥ 319 ॥
सांच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप ।
जाके हिरदै में सांच है, ताके हिरदै हरि आप ॥ 320 ॥
खूब खांड है खीचड़ी, माहि ष्डयाँ टुक कून ।
देख पराई चूपड़ी, जी ललचावे कौन ॥ 321 ॥
साईं सेती चोरियाँ, चोरा सेती गुझ ।
जाणैंगा रे जीवएगा, मार पड़ैगी तुझ ॥ 322 ॥
तीरथ तो सब बेलड़ी, सब जग मेल्या छाय ।
कबीर मूल निकंदिया, कौण हलाहल खाय ॥ 323 ॥
जप-तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास ।
सूवै सैंबल सेविया, यौ जग चल्या निरास ॥ 324 ॥
जेती देखौ आत्म, तेता सालिगराम ।
राधू प्रतषि देव है, नहीं पाथ सूँ काम ॥ 325 ॥
कबीर दुनिया देहुरै, सीत नवांवरग जाइ ।
हिरदा भीतर हरि बसै, तू ताहि सौ ल्यो लाइ ॥ 326 ॥
मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जाणि ।
दसवां द्वारा देहुरा, तामै जोति पिछिरिग ॥ 327 ॥
मेरे संगी दोइ जरग, एक वैष्णौ एक राम ।
वो है दाता मुक्ति का, वो सुमिरावै नाम ॥ 328 ॥
मथुरा जाउ भावे द्वारिका, भावै जाउ जगनाथ ।
साथ-संगति हरि-भागति बिन-कछु न आवै हाथ ॥ 329 ॥

कबीर संगति साधु की, बेगि करीजै जाइ ।
दुर्मति दूरि बंबाइसी, देसी सुमति बताइ ॥ 330 ॥
उज्जवल देखि न धीजिये, वग ज्यूं माडै ध्यान ।
धीर बौठि चपेटसी, यूँ ले बूडै ग्यान ॥ 331 ॥
जेता मीठा बोलरगा, तेता साधन जारिग ।
पहली था दिखाइ करि, उडै देसी आरिग ॥ 332 ॥
जानि बूझि सांचहिं तर्जे, करै झूठ सूँ नेहु ।
ताकि संगति राम जी, सुपिने ही पिनि देहु ॥ 333 ॥
कबीर तास मिलाइ, जास हियाली तू बसै ।
नहिंतर बेगि उठाइ, नित का गंजर को सहै ॥ 334 ॥

कबीरा बन-बन मे फिरा, कारणि आपणै राम ।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सवेरे काम ॥ 335 ॥
कबीर मन पंषो भया, जहाँ मन वहाँ उड़ि जाय ।
जो जैसी संगति करै, सो तैसे फल खाइ ॥ 336 ॥
कबीरा खाई कोट कि, पानी पिवै न कोई ।
जाइ मिलै जब गंग से, तब गंगोदक होइ ॥ 337 ॥
माषी गुड़ मैं गड़ि रही, पंख रही लपटाई ।
ताली पीटै सिरि घुनै, मीठै बोई माइ ॥ 338 ॥
मूरख संग न कीजिये, लोहा जलि न तिराइ ।
कदली-सीप-भुजगं मुख, एक बूंद तिहँ भाइ ॥ 339 ॥
हरिजन सेती रुसणा, संसारी सूँ हेत ।
ते णर कदे न नीपजौ, ज्यूँ कालर का खेत ॥ 340 ॥

काजल केरी कोठड़ी, तैसी यहु संसार ।
बलिहारी ता दास की, पैसिर निकसण हार ॥ 341 ॥
पाणी हीतै पातला, धुवाँ ही तै झीण ।
पवनां बेगि उतावला, सो दोस्त कबीर कीन्ह ॥ 342 ॥
आसा का ईंधण करूँ, मनसा करूँ बिभूति ।
जोगी फेरी फिल करूँ, यौं बिनना वो सूति ॥ 343 ॥
कबीर मारू मन कूँ, टूक-टूक है जाइ ।
विव की क्यारी बोइ करि, लुणत कहा पछिताइ ॥ 353 ॥
कागद केरी नाव री, पाणी केरी गंग ।
कहै कबीर कैसे तिरूँ, पंच कुसंगी संग ॥ 354 ॥
मैं मन्ता मन मारि रे, घट ही माहैं घेरि ।
जबहीं चालै पीठि दे, अंकुस दै-दै फेरि ॥ 355 ॥
मनह मनोरथ छाँड़िये, तेरा किया न होइ ।
पाणी में घीव नीकसै, तो रूखा खाइ न कोइ ॥ 356 ॥
एक दिन ऐसा होएगा, सब सूँ पड़े बिछोइ ।
राजा राणा छत्रपति, सावधान किन होइ ॥ 357 ॥
कबीर नौबत आपणी, दिन-दस लेहू बजाइ ।
ए पुर पाटन, ए गली, बहुरि न देखै आइ ॥ 358 ॥
जिनके नौबति बाजती, भैंगल बंधते बारि ।
एकै हरि के नाव बिन, गए जनम सब हारि ॥ 359 ॥

कहा कियौ हम आइ करि, कहा कहैंगे जाइ ।
इत के भये न उत के, चलित भूल गँवाइ ॥ 360 ॥

बिन रखवाले बाहिरा, चिड़िया खाया खेत ।
आधा-परधा ऊबरै, चेति सकै तो चैति ॥ 361 ॥
कबीर कहा गरबियौ, काल कहै कर केस ।
ना जाणै कहाँ मारिसी, कै धरि के परदेस ॥ 362 ॥
नान्हा कातौ चित्त दे, महँगे मोल बिलाइ ।
गाहक राजा राम है, और न नेडा आइ ॥ 363 ॥
उजला कपड़ा पहिरि करि, पान सुपारी खाहिं ।
एकै हरि के नाव बिन, बाँधे जमपुरि जाहिं ॥ 364 ॥
कबीर केवल राम की, तू जिनि छाँड़ै ओट ।
घण-अहरनि बिचि लौह ज्यूँ, घणी सहै सिर चोट ॥ 365 ॥
मैं-मैं बड़ी बलाइ है सकै तो निकसौ भाजि ।
कब लग राखौ हे सखी, रुई लपेटी आगि ॥ 366 ॥
कबीर माला मन की, और संसारी भेष ।
माला पहरयां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देखि ॥ 367 ॥
माला पहिरै मनभुषी, ताथै कछू न होइ ।
मन माला को फैरता, जग उजियारा सोइ ॥ 368 ॥
कैसो कहा बिगाड़िया, जो मुंडै सौ बार ।
मन को काहे न मूंडिये, जामे विषम-विकार ॥ 369 ॥
माला पहरयां कुछ नहीं, भगति न आई हाथ ।
माथौ मूँछ मुंडाइ करि, चल्या जगत् के साथ ॥ 370 ॥
बैसनो भया तौ क्या भया, बूझा नहीं बबेक ।
छापा तिलक बनाइ करि, दगहया अनेक ॥ 371 ॥

स्वाँग पहरि सो रहा भया, खाया-पीया खूंदि ।
जिहि तेरी साधु नीकले, सो तो मेल्ही मूंदि ॥ 372 ॥
चतुराई हरि ना मिलै, ए बातां की बात ।
एक निस प्रेही निरधार का गाहक गोपीनाथ ॥ 373 ॥
एष ले बूढ़ी पृथमी, झूठे कुल की लार ।
अलष बिसारयो भेष में, बूड़े काली धार ॥ 374 ॥
कबीर हरि का भावता, झीणां पंजर ।
रैणि न आवै नींदड़ी, अंगि न चढ़ई मांस ॥ 375 ॥

सिंहों के लेहँड नहीं, हंसों की नहीं पाँत ।
लालों की नहि बोरियाँ, साध न चलै जमात ॥ 376 ॥
गाँठी दाम न बांधई, नहिं नारी सों नेह ।
कह कबीर ता साध की, हम चरनन की खेह ॥ 377 ॥
निरबैरी निहकामता, साईं सेती नेह ।
विषिया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग सह ॥ 378 ॥
जिहिं हिरदै हरि आइया, सो क्यूं छाना होइ ।
जतन-जतन करि दाबिये, तऊ उजाला सोइ ॥ 379 ॥
काम मिलावे राम कूं, जे कोई जाणै राखि ।
कबीर बिचारा क्या कहै, जाकि सुख्देव बोले साख ॥ 380 ॥
राम वियोगी तन बिकल, ताहि न चीन्हे कोई ।
तंबोली के पान ज्यूं, दिन-दिन पीला होई ॥ 381 ॥
पावक रूपी राम है, घटि-घटि रह्या समाइ ।
चित चकमक लागै नहीं, ताथै घूवाँ है-है जाइ ॥ 382 ॥
फाटै दीदै में फिरौं, नजिर न आवै कोई ।
जिहि घटि मेरा साँइयाँ, सो क्यूं छाना होई ॥ 383 ॥
हैवर गैवर सघन धन, छत्रपती की नारि ।
तास पटेतर ना तुलै, हरिजन की पनिहारि ॥ 384 ॥
जिहिं धरि साध न पूजि, हरि की सेवा नाहिं ।
ते घर भड़धट सारषे, भूत बसै तिन माहिं ॥ 385 ॥
कबीर कुल तौ सोभला, जिहि कुल उपजै दास ।
जिहिं कुल दास न उपजै, सो कुल आक-पलास ॥ 386 ॥
क्यूं नृप-नारी नींदिये, क्यूं पनिहारी कौ मान ।
वा माँग सँवारे पील कौ, या नित उठि सुमिरैराम ॥ 387 ॥
काबा फिर कासी भया, राम भया रे रहीम ।
मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम ॥ 388 ॥
दुखिया भूखा दुख कौं, सुखिया सुख कौं झूरि ।
सदा अजंदी राम के, जिनि सुख-दुख गेल्हे दूरि ॥ 389 ॥
कबीर दुबिधा दूरि करि, एक अंग है लागि ।
यहु सीतल बहु तपति है, दोऊ कहिये आगि ॥ 390 ॥
कबीर का तू चिंतवै, का तेरा च्यंत्या होइ ।
अण्च्यंत्या हरिजी करै, जो तोहि च्यंत न होइ ॥ 391 ॥
भूखा भूखा क्या करैं, कहा सुनावै लोग ।
भांडा घड़ि जिनि मुख यिका, सोई पूरण जोग ॥ 392 ॥

रचनाहार कूं चीन्हि लै, खैबे कूं कहा रोइ ।
दिल मंदि मैं पैसि करि, ताणि पछेवड़ा सोइ ॥ 393 ॥
कबीर सब जग हंडिया, मांदल कंधि चढ़ाइ ।
हरि बिन अपना कोउ नहीं, देखे ठोकि बनाइ ॥ 394 ॥
मांगण मरण समान है, बिरता बंचै कोई ।
कहै कबीर रघुनाथ सूं, मति रे मंगावे मोहि ॥ 395 ॥
मानि महतम प्रेम-रस गरवातण गुण नेह ।
ए सबहीं अहला गया, जबही कह्या कुछ देह ॥ 396 ॥
संत न बांधै गाठड़ी, पेट समाता-तेइ ।
साईं सूं सनमुख रहै, जहाँ माँगे तहां देइ ॥ 397 ॥
कबीर संसा कोउ नहीं, हरि सूं लाग्गा हेत ।
काम-क्रोध सूं झूझणा, चौडै मांड़्या खेत ॥ 398 ॥
कबीर सोई सूरिमा, मन सूँ मांडै झूझ ।
पंच पयादा पाड़ि ले, दूरि करै सब दूज ॥ 399 ॥
जिस मरनै यैं जग डरै, सो मेरे आनन्द ।
कब मरिहूँ कब देखिहूँ पूरन परमानंद ॥ 400 ॥

अब तौ जूझया ही बरगै, मुडि चल्यां घर दूर ।
सिर साहिबा कौ सौंपता, सोंच न कीजै सूर ॥ 401 ॥
कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चाढ़ि असवार ।
ग्यान खड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार ॥ 402 ॥
कबीर हरि सब कूँ भजै, हरि कूँ भजै न कोइ ।
जब लग आस सरीर की, तब लग दास न होइ ॥ 403 ॥
सिर साटैं हरि सेवेये, छांड़ि जीव की बाणि ।
जे सिर दीया हरि मिलै, तब लगि हाणि न जाणि ॥ 404 ॥

जेते तारे रैणि के, तेतै बैरी मुझ ।
धड़ सूली सिर कंगुरै, तऊ न बिसारौ तुझ ॥ 405 ॥
आपा भेटियाँ हरि मिलै, हरि मेट् या सब जाइ ।
अकथ कहाणी प्रेम की, कह्या न कोउ पत्याइ ॥ 406 ॥
जीवन थैं मरिबो भलौ, जो मरि जानैं कोइ ।
मरनैं पहली जे मरै, जो कलि अजरावर होइ ॥ 407 ॥
कबीर मन मृतक भया, दुर्बल भया सरीर ।
तब पैंडे लागा हरि फिरै, कहत कबीर कबीर ॥ 408 ॥

रोड़ा है रहो बाट का, तजि पाषंड अभिमान ।
ऐसा जे जन है रहै, ताहि मिलै भगवान ॥ 409 ॥
कबीर चेरा संत का, दासनि का परदास ।
कबीर ऐसैं होइ रक्षा, ज्यूँ पाऊँ तलि घास ॥ 410 ॥
अबरन कों का बरनिये, भोपै लख्या न जाइ ।
अपना बाना वाहिया, कहि-कहि थाके भाइ ॥ 411 ॥
जिसहि न कोई विसहि तू, जिस तू तिस सब कोई ।
दरिगह तेरी सांइयाँ, जा मरूम कोइ होइ ॥ 412 ॥
साँई मेरा वाणियां, सहति करै व्यौपार ।
बिन डांडी बिन पालड़ै तौले सब संसार ॥ 413 ॥
झल बावै झल दाहिनै, झलहि माहि त्योहार ।
आगै-पीछै झलमाई, राखै सिरजनहार ॥ 414 ॥
एसी बाणी बोलिये, मन का आपा खोइ ।
औरन को सीतल करै, आपौ सीतल होइ ॥ 415 ॥

कबीर हरि कग नाव सूँ प्रीति रहै इकवार ।
तौ मुख तैं मोती झड़ै हीरे अन्त न पार ॥ 416 ॥
बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार ।
दुहुँ चूका रीता पड़ै वाकूँ वार न पार ॥ 417 ॥
कोई एक राखै सावधां, चेतनि पहरै जागि ।
बस्तर बासन सूँ खिसै, चोर न सकई लागि ॥ 418 ॥
बारी-बारी आपणीं, चले पियारे म्यंत ।
तेरी बारी रे जिया, नेड़ी आवै निंत ॥ 419 ॥
पदारथ पेलि करि, कंकर लीया हाथि ।
जोड़ी बिछटी हंस की, पड़या बगां के साथि ॥ 420 ॥
निंदक नियारे राखिये, आंगन कुटि छबाय ।
बिन पाणी बिन सबुना, निरमल करै सुभाय ॥ 421 ॥
गोत्यंद के गुण बहुत हैं, लिखै जु हिरदै मांहि ।
डरता पाणी जा पीऊं, मति वै धोये जाहि ॥ 422 ॥
जो ऊग्या सो आंथवै, फूल्या सो कुमिलाइ ।
जो चिणियां सो ढहि पड़ै, जो आया सो जाइ ॥ 423 ॥
सीतलता तब जाणियें, समिता रहै समाइ ।
पष छाँड़ै निरपष रहै, सबद न देष्या जाइ ॥ 424 ॥

खूंदन तौ धरती सहै, बाढ़ सहै बनराइ ।
कुसबद तौ हरिजन सहै, दूजै सह्या न जाइ ॥ 425 ॥
नीर पियावत क्या फिरै, सायर घर-घर बारि ।
जो त्रिषावन्त होइगा, सो पीवेगा झखमारि ॥ 426 ॥

कबीर सिरजन हार बिन, मेरा हित न कोइ ।
गुण औगुण बिहणै नहीं, स्वारथ बँधी लोइ ॥ 427 ॥
हीरा परा बजार में, रहा छार लपिटाइ ।
ब तक मूरख चलि गये पारखि लिया उठाइ ॥ 428 ॥
सुरति करौ मेरे साइयां, हम हैं भोजन माहिं ।
आपे ही बहि जाहिंगे, जौ नहिं पकरौ बाहिं ॥ 429 ॥
क्या मुख लै बिनती करौं, लाज आवत है मोहि ।
तुम देखत ओगुन करौं, कैसे भावों तोहि ॥ 430 ॥
सब काहू का लीजिये, साचां सबद निहार ।
पच्छपात ना कीजिये कहै कबीर विचार ॥ 431 ॥

॥ गुरु के विषय में दोहे ॥

गुरु सों ज्ञान जु लीजिये सीस दीजिए दान ।
बहुतक भोदूँ बहि गये, राखि जीव अभिमान ॥ 432 ॥
गुरु को कीजै दण्डव कोटि-कोटि परनाम ।
कीट न जाने भृगं को, गुरु करले आप समान ॥ 433 ॥
कुमति कीच चेला भरा, गुरु ज्ञान जल होय ।
जनम-जनम का मोरचा, पल में डारे धोय ॥ 434 ॥
गुरु पारस को अन्तरो, जानत है सब सन्त ।
वह लोहा कंचन करे, ये करि लेय महन्त ॥ 435 ॥
गुरु की आज्ञा आवै, गुरु की आज्ञा जाय ।
कहैं कबीर सो सन्त हैं, आवागमन नशाय ॥ 436 ॥

जो गुरु बसै बनारसी, सीष समुन्दर तीर ।
एक पलक बिसरे नहीं, जो गुण होय शरीर ॥ 437 ॥
गुरु समान दाता नहीं, याचक सीष समान ।
तीन लोक की सम्पदा, सो गुरु दीन्ही दान ॥ 438 ॥
गुरु कुम्हार सिष कुंभ है, गढ़ि-गढ़ि काढ़ै खोट ।
अन्तर हाथ सहार दै, बाहर बाहै चोट ॥ 439 ॥

गुरु को सिर राखिये, चलिये आज्ञा माहिं ।
कहैं कबीर ता दास को, तीन लोक भय नहिं ॥ 440 ॥
लच्छ कोष जो गुरु बसै, दीजै सुरति पठाय ।
शब्द तुरी बसवार है, छिन आवै छिन जाय ॥ 441 ॥
गुरु मूरति गति चन्द्रमा, सेवक नैन चकोर ।
आठ पहर निरखता रहे, गुरु मूरति की ओर ॥ 442 ॥
गुरु सों प्रीति निबाहिये, जेहि तत निबटै सन्त ।
प्रेम बिना ढिग दूर है, प्रेम निकट गुरु कन्त ॥ 443 ॥
गुरु बिन ज्ञान न उपजै, गुरु बिन मिलै न मोष ।
गुरु बिन लखै न सत्य को, गुरु बिन मिटे न दोष ॥ 444 ॥
गुरु मूरति आगे खड़ी, दुनिया भेद कछु नाहिं ।
उन्हीं कूँ परनाम करि, सकल तिमिर मिटि जाहिं ॥ 445 ॥
गुरु शरणागति छाड़ि के, करै भरौसा और ।
सुख सम्पति की कह चली, नहीं परक ये ठौर ॥ 446 ॥
सिष खांडा गुरु भसकला, चढ़ै शब्द खरसान ।
शब्द सहै सम्मुख रहै, निपजै शीष सुजान ॥ 447 ॥
ज्ञान समागम प्रेम सुख, दया भक्ति विश्वास ।
गुरु सेवा ते पाइये, सद्गुरु चरण निवास ॥ 448 ॥
अहं अग्नि निशि दिन जरै, गुरु सो चाहे मान ।
ताको जम न्योता दिया, होउ हमार मेहमान ॥ 449 ॥
जैसी प्रीति कुटुम्ब की, तैसी गुरु सों होय ।
कहैं कबीर ता दास का, पला न पकड़ै कोय ॥ 450 ॥
मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव ।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव ॥ 451 ॥
पंडित पाढ़ि गुनि पचि मुये, गुरु बिना मिलै न ज्ञान ।
ज्ञान बिना नहिं मुक्ति है, सत्त शब्द परनाम ॥ 452 ॥
सोइ-सोइ नाच नचाइये, जेहि निबहे गुरु प्रेम ।
कहै कबीर गुरु प्रेम बिन, कतहुँ कुशल नहि क्षेम ॥ 453 ॥
कहैं कबीर जजि भरम को, नन्हा है कर पीव ।
तजि अहं गुरु चरण गहु, जमसों बाचै जीव ॥ 454 ॥
कोटिन चन्दा उगही, सूरज कोटि हज़ार ।
तीमिर तौ नाशै नहीं, बिन गुरु घोर अंधार ॥ 455 ॥
तबही गुरु प्रिय बैन कहि, शीष बढ़ी चित प्रीत ।
ते रहियें गुरु सनमुखाँ कबहूँ न दीजै पीठ ॥ 456 ॥

तन मन शीष निछावरै, दीजै सरबस प्रान ।
कहैं कबीर गुरु प्रेम बिन, कितहूँ कुशल नहिं क्षेम ॥ 457 ॥
जो गुरु पूरा होय तो, शीषहि लेय निबाहि ।
शीष भाव सुत्त जानिये, सुत ते श्रेष्ठ शिष आहि ॥ 458 ॥
भौ सागर की त्रास तेक, गुरु की पकड़ो बाँहि ।
गुरु बिन कौन उबारसी, भौ जल धारा माँहि ॥ 459 ॥
करै दूरि अज्ञानता, अंजन ज्ञान सुदेय ।
बलिहारी वे गुरुन की हंस उबारि जुलेय ॥ 460 ॥
सुनिये सन्तों साधु मिलि, कहहिं कबीर बुझाय ।
जेहि विधि गुरु सों प्रीति छै कीजै सोई उपाय ॥ 461 ॥
अबुध सुबुध सुत मातु पितु, सबहि करै प्रतिपाल ।
अपनी और निबाहिये, सिख सुत गहि निज चाल ॥ 462 ॥
लौ लागी विष भागिया, कालख डारी धोय ।
कहैं कबीर गुरु साबुन सों, कोई इक ऊजल होय ॥ 463 ॥
राजा की चोरी करे, रहै रंग की ओट ।
कहैं कबीर क्यों उबरै, काल कठिन की चोट ॥ 464 ॥
साबुन बिचारा क्या करे, गाँठे राखे मोय ।
जल सो अरसां नहिं, क्यों कर ऊजल होय ॥ 465 ॥

॥ सतगुरु के विषय मे दोहे ॥

सत्गुरु तो सतभाव है, जो अस भेद बताय ।
धन्य शीष धन भाग तिहि जो ऐसी सुधि पाय ॥ 466 ॥
सतगुरु शरण न आवहीं, फिर फिर होय अकाज ।
जीव खोय सब जायेंगे काल तिहूँ पुर राज ॥ 467 ॥
सतगुरु सम कोई नहीं सात दीप नौ खण्ड ।
तीन लोक न पाइये, अरु इक्कीस ब्रह्मण्ड ॥ 468 ॥
सतगुरु मिला जु जानिये, ज्ञान उजाला होय ।
भ्रम का भांड तोड़ि करि, रहै निराला होय ॥ 469 ॥
सतगुरु मिले जु सब मिले, न तो मिला न कोय ।
माता-पिता सुत बाँधवा ये तो घर घर होय ॥ 470 ॥
जेहि खोजत ब्रह्मा थके, सुर नर मुनि अरु देव ।
कहै कबीर सुन साधवा, करु सतगुरु की सेव ॥ 471 ॥
मनहिं दिया निज सब दिया, मन से संग शरीर ।
अब देवे को क्या रहा, यों कयि कहहिं कबीर ॥ 472 ॥

सतगुरु को माने नही, अपनी कहै बनाय ।
कहै कबीर क्या कीजिये, और मता मन जाय ॥ 473 ॥
जग में युक्ति अनूप है, साधु संग गुरु ज्ञान ।
तामें निपट अनूप है, सतगुरु लागा कान ॥ 474 ॥
कबीर समूझा कहत है, पानी थाह बताय ।
ताकूँ सतगुरु का करे, जो औघट डूबे जाय ॥ 475 ॥
बिन सतगुरु उपदेश, सुर नर मुनि नहिं निस्तरे ।
ब्रह्मा-विष्णु, महेश और सकल जिव को गिनै ॥ 476 ॥
केते पढ़ि गुनि पचि भुए, योग यज्ञ तप लाय ।
बिन सतगुरु पावै नहीं, कोटिन करे उपाय ॥ 477 ॥
डूबा औघट न तरै, मोहिं अंदेशा होय ।
लोभ नदी की धार में, कहा पड़ो नर सोइ ॥ 478 ॥
सतगुरु खोजो सन्त, जोव काज को चाहहु ।
मेटो भव को अंक, आवा गवन निवारहु ॥ 479 ॥
करहु छोड़ कुल लाज, जो सतगुरु उपदेश है ।
होये सब जिव काज, निश्चय करि परतीत करू ॥ 480 ॥
यह सतगुरु उपदेश है, जो मन माने परतीत ।
करम भरम सब त्यागि के, चलै सो भव जल जीत ॥ 481 ॥
जग सब सागर मोहिं, कहु कैसे बूड़त तेरे ।
गहु सतगुरु की बाहिं जो जल थल रक्षा करै ॥ 482 ॥

॥ गुरु पारख पर दोहे ॥

जानीता बूझा नहीं बूझि किया नहीं गौन ।
अन्धे को अन्धा मिला, राह बतावे कौन ॥ 483 ॥
जाका गुरु है आँधरा, चेला खरा निरन्ध ।
अन्धे को अन्धा मिला, पड़ा काल के फन्द ॥ 484 ॥
गुरु लोभ शिष लालची, दोनों खेले दाँव ।
दोनों बूड़े बापुरे, चढ़ि पाथर की नाँव ॥ 485 ॥
आगे अंधा कूप में, दूजे लिया बुलाय ।
दोनों बूड़छे बापुरे, निकसे कौन उपाय ॥ 486 ॥
गुरु किया है देह का, सतगुरु चीन्हा नाहिं ।
भवसागर के जाल में, फिर फिर गोता खाहि ॥ 487 ॥
पूरा सतगुरु न मिला, सुनी अधूरी सीख ।
स्वाँग यती का पहिनि के, घर घर माँगी भीख ॥ 488 ॥

कबीर गुरु है घाट का, हाँटू बैठा चेल ।
मूड़ मुड़ाया साँझ कूँ गुरु सबेरे ठेल ॥ 489 ॥
गुरु-गुरु में भेद है, गुरु-गुरु में भाव ।
सोइ गुरु नित बन्दिये, शब्द बतावे दाव ॥ 490 ॥
जो गुरु ते भ्रम न मिटे, भ्रान्ति न जिसका जाय ।
सो गुरु झूठा जानिये, त्यागत देर न लाय ॥ 491 ॥
झूठे गुरु के पक्ष की, तजत न कीजै वार ।
द्वार न पावै शब्द का, भटके बारम्बार ॥ 492 ॥
सद्गुरु ऐसा कीजिये, लोभ मोह भ्रम नाहिं ।
दरिया सो न्यारा रहे, दीसे दरिया माहि ॥ 493 ॥
कबीर बेड़ा सार का, ऊपर लादा सार ।
पापी का पापी गुरु, यो बूढ़ा संसार ॥ 494 ॥
जो गुरु को तो गम नहीं, पाहन दिया बताय ।
शिष शोधे बिन सेइया, पार न पहुँचा जाए ॥ 495 ॥
सोचे गुरु के पक्ष में, मन को दे ठहराय ।
चंचल से निश्चल भया, नहिं आवै नहीं जाय ॥ 496 ॥
गु अँधियारी जानिये, रु कहिये परकाश ।
मिटि अज्ञाने ज्ञान दे, गुरु नाम है तास ॥ 497 ॥
गुरु नाम है गम्य का, शीष सीख ले सोय ।
बिनु पद बिनु मरजाद नर, गुरु शीष नहिं कोय ॥ 498 ॥
गुरुवा तो घर फिरे, दीक्षा हमारी लेह ।
कै बूड़ौ कै ऊबरो, टका परदानी देह ॥ 499 ॥
गुरुवा तो सस्ता भया, कौड़ी अर्थ पचास ।
अपने तन की सुधि नहीं, शिष्य करन की आस ॥ 500 ॥

जाका गुरु है गीरही, गिरही चेला होय ।
कीच-कीच के धोवते, दाग न छूटे कोय ॥ 501 ॥
गुरु मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप ।
हरष शोष व्यापे नहीं, तब गुरु आपे आप ॥ 502 ॥
यह तन विषय की बेलरी, गुरु अमृत की खान ।
सीस दिये जो गुरु मिलै, तो भी सस्ता जान ॥ 503 ॥
बँधे को बँधा मिला, छूटै कौन उपाय ।
कर सेवा निरबन्ध की पल में लेय छुड़ाय ॥ 504 ॥

गुरु बिचारा क्या करै, शब्द न लागै अंग ।
कहैं कबीर मैक्ली गजी, कैसे लागू रंग ॥ 505 ॥
गुरु बिचारा क्या करे, ह्रदय भया कठोर ।
नौ नेजा पानी चढ़ा पथर न भीजी कोर ॥ 506 ॥
कहता हूँ कहि जात हूँ, देता हूँ हेला ।
गुरु की करनी गुरु जाने चेला की चेला ॥ 507 ॥

॥ गुरु शिष्य के विषय मे दोहे ॥

शिष्य पुजै आपना, गुरु पूजै सब साध ।
कहैं कबीर गुरु शीष को, मत है अगम अगाध ॥ 508 ॥
हिरदे ज्ञान न उपजै, मन परतीत न होय ।
ताके सद्गुरु कहा करें, घनघसि कुल्हरन होय ॥ 509 ॥
ऐसा कोई न मिला, जासू कहूँ निसंक ।
जासो हिरदा की कहूँ, सो फिर मारे डंक ॥ 510 ॥
शिष किरपिन गुरु स्वारथी, किले योग यह आय ।
कीच-कीच के दाग को, कैसे सके छुड़ाय ॥ 511 ॥
स्वामी सेवक होय के, मनही में मिलि जाय ।
चतुराई रीझै नहीं, रहिये मन के माय ॥ 512 ॥
गुरु कीजिए जानि के, पानी पीजै छानि ।
बिना विचारे गुरु करे, परे चौरासी खानि ॥ 513 ॥
सत को खोजत मैं फिरूँ, सतिया न मिलै न कोय ।
जब सत को सतिया मिले, विष तजि अमृत होय ॥ 514 ॥
देश-देशान्तर मैं फिरूँ, मानुष बड़ा सुकाल ।
जा देखै सुख उपजै, वाका पड़ा दुकाल ॥ 515 ॥

॥ भिक्ति के विषय मे दोहे ॥

कबीर गुरु की भक्ति बिन, राजा ससभ होय ।
माटी लदै कुम्हार की, घास न डारै कोय ॥ 516 ॥
कबीर गुरु की भक्ति बिन, नारी कूकरी होय ।
गली-गली भूँकत फिरै, टूक न डारै कोय ॥ 517 ॥
जो कामिनि परदै रहे, सुनै न गुरुगुण बात ।
सो तो होगी कूकरी, फिरै उघारे गात ॥ 518 ॥

चौंसठ दीवा जोय के, चौदह चन्दा माहिं ।
तेहि घर किसका चाँदना, जिहि घर सतगुरु नाहिं ॥ 519 ॥
हरिया जाने रूखाड़ा, उस पानी का नेह ।
सूखा काठ न जानिहै, कितहूँ बूड़ा गेह ॥ 520 ॥
झिरमिर झिरमिर बरसिया, पाहन ऊपर मेह ।
माटी गलि पानी भई, पाहन वाही नेह ॥ 521 ॥
कबीर हृदय कठोर के, शब्द न लागे सार ।
सुधि-सुधि के हिरदे विधे, उपजै ज्ञान विचार ॥ 522 ॥
कबीर चन्दर के भिरै, नीम भी चन्दन होय ।
बूड़यो बाँस बड़ाइया, यों जनि बूड़ो कोय ॥ 523 ॥
पशुआ सों पालो परो, रहू-रहू हिया न खीज ।
ऊसर बीज न उगसी, बोवै दूना बीज ॥ 524 ॥
कंचन मेरू अरपही, अरपैं कनक भण्डार ।
कहैं कबीर गुरु बेमुखी, कबहूँ न पावै पार ॥ 525 ॥
साकट का मुख बिम्ब है निकसत बचन भुवंग ।
ताकि औषण मौन है, विष नहिं व्यापै अंग ॥ 526 ॥
शुकदेव सरीखा फेरिया, तो को पावे पार ।
बिनु गुरु निगुरा जो रहे, पड़े चौरासी धार ॥ 527 ॥
कबीर लहरि समुन्द्र की, मोती बिखरे आय ।
बगुला परख न जानई, हंस चुनि-चुनि खाय ॥ 528 ॥
साकट कहा न कहि चलै, सुनहा कहा न खाय ।
जो कौवा मठ हगि भरै, तो मठ को कहा नशाय ॥ 529 ॥
साकट मन का जेवरा, भजै सो करराय ।
दो अच्छर गुरु बहिरा, बाधा जमपुर जाय ॥ 530 ॥
कबीर साकट की सभा, तू मति बैठे जाय ।
एक गुवाड़े कदि बड़ै, रोज गदहरा गाय ॥ 531 ॥
संगत सोई बिगुर्चई, जो है साकट साथ ।
कंचन कटोरा छाड़ि के, सनहक लीन्ही हाथ ॥ 532 ॥
साकट संग न बैठिये करन कुबेर समान ।
ताके संग न चलिये, पड़ि हैं नरक निदान ॥ 533 ॥
टेक न कीजै बावरे, टेक माहि है हानि ।
टेक छाड़ि मानिक मिलै, सत गुरु वचन प्रमानि ॥ 534 ॥
साकट सूकर कीकरा, तीनों की गति एक है ।
कोटि जतन परमोघिये, तऊ न छाड़े टेक ॥ 535 ॥

निगुरा ब्राह्म्ण नहिं भला, गुरुमुख भला चमार।
देवतन से कुत्ता भला, नित उठि भूँके द्वार ॥ 536 ॥
हरिजन आवत देखिके, मोहड़ो सूखि गयो।
भाव भक्ति समझयो नहीं, मूरख चूकि गयो ॥ 537 ॥
खसम कहावै बैरनव, घर में साकट जोय।
एक धरा में दो मता, भक्ति कहाँ ते होय ॥ 538 ॥
घर में साकट स्त्री, आप कहावे दास।
वो तो होगी शूकरी, वो रखवाला पास ॥ 539 ॥
आँखों देखा घी भला, न मुख मेला तेल।
साधु सो झगड़ा भला, ना साकट सों मेल ॥ 540 ॥
कबीर दर्शन साधु का, बड़े भाग दरशाय।
जो होवै सूली सजा, काँटे ई टरि जाय ॥ 541 ॥
कबीर सोई दिन भला, जा दिन साधु मिलाय।
अंक भरे भारि भेटिये, पाप शरीर जाय ॥ 542 ॥
कबीर दर्शन साधु के, करत न कीजै कानि।
ज्यों उद्य्म से लक्ष्मी, आलस मन से हानि ॥ 543 ॥
कई बार नाहिं कर सके, दोय बखत करिलेय।
कबीर साधु दरश ते, काल दगा नहिं देय ॥ 544 ॥
दूजे दिन नहिं करि सके, तीजे दिन करू जाय।
कबीर साधु दरश ते मोक्ष मुक्ति फन पाय ॥ 545 ॥
तीजे चौथे नहिं करे, बार-बार करू जाय।
यामें विलंब न कीजिये, कहैं कबीर समुझाय ॥ 546 ॥
दोय बखत नहिं करि सके, दिन में करूँ इक बार।
कबीर साधु दरश ते, उतरैं भव जल पार ॥ 547 ॥
बार-बार नहिं करि सके, पाख-पाख करिलेय।
कहैं कबीरन सो भक्त जन, जन्म सुफल करि लेय ॥ 548 ॥
पाख-पाख नहिं करि सकै, मास मास करू जाय।
यामें देर न लाइये, कहैं कबीर समुदाय ॥ 549 ॥
बरस-बरस नाहिं करि सकै ताको लागे दोष।
कहै कबीर वा जीव सो, कबहु न पावै योष ॥ 550 ॥
छठे मास नहिं करि सके, बरस दिना करि लेय।
कहैं कबीर सो भक्तजन, जमहिं चुनौती देय ॥ 551 ॥
मास-मास नहिं करि सकै, उठे मास अलबत्त।
यामें ढील न कीजिये, कहै कबीर अविगत्त ॥ 552 ॥

मात-पिता सुत इस्तरी आलस्य बन्धू कानि ।
साधु दरश को जब चलैं, ये अटकावै आनि ॥ 553 ॥
साधु चलत रो दीजिये, कीजै अति सनमान ।
कहैं कबीर कछु भेट धरूँ, अपने बित्त अनुमान ॥ 554 ॥
इन अटकाया न रुके, साधु दरश को जाय ।
कहै कबीर सोई सन्तजन, मोक्ष मुक्ति फल पाय ॥ 555 ॥
खाली साधु न बिदा करूँ, सुन लीजै सब कोय ।
कहै कबीर कछु भेंट धरूँ, जो तेरे घर होय ॥ 556 ॥
सुनिये पार जो पाइया, छाजन भोजन आनि ।
कहै कबीर संतन को, देत न कीजै कानि ॥ 557 ॥
कबीर दरशन साधु के, खाली हाथ न जाय ।
यही सीख बुध लीजिए, कहै कबीर बुझाय ॥ 558 ॥
टूका माही टूक दे, चीर माहि सो चीर ।
साधु देत न सकुचिये, यों कशि कहहिं कबीर ॥ 559 ॥
कबीर लौंग-इलायची, दातुन, माटी पानि ।
कहै कबीर सन्तन को, देत न कीजै कानि ॥ 560 ॥
साधु आवत देखिकर, हँसी हमारी देह ।
माथा का ग्रह उतरा, नैनन बढ़ा सनेह ॥ 561 ॥
साधु शब्द समुद्र है, जामें रत्न भराय ।
मन्द भाग मट्टी भरे, कंकर हाथ लगाय ॥ 562 ॥
साधु आया पाहुना, माँगे चार रतन ।
धूनी पानी साथरा, सरधा सेती अन्न ॥ 563 ॥
साधु आवत देखिके, मन में करै भरोर ।
सो तो होसी चूह्रा, बसै गाँव की ओर ॥ 564 ॥
साधु मिलै यह सब हलै, काल जाल जम चोट ।
शीश नवावत ढ़हि परै, अघ पावन को पोट ॥ 565 ॥
साधु बिरछ सतज्ञान फल, शीतल शब्द विचार ।
जग में होते साधु नहिं, जर भरता संसार ॥ 566 ॥
साधु बड़े परमारथी, शीतल जिनके अंग ।
तपन बुझावै ओर की, देदे अपनो रंग ॥ 567 ॥
आवत साधु न हरखिया, जात न दीया रोय ।
कहै कबीर वा दास की, मुक्ति कहाँ से होय ॥ 568 ॥
छाजन भोजन प्रीति सो, दीजै साधु बुलाय ।
जीवन जस है जगन में, अन्त परम पद पाय ॥ 569 ॥

सरवर तरवर सन्त जन, चौथा बरसे मेह ।
परमारथ के कारने, चारों धारी देह ॥ 570 ॥
बिरछा कबहुँ न फल भखै, नदी न अंचय नीर ।
परमारथ के कारने, साधु धरा शरीर ॥ 571 ॥
सुख देवै दुख को हरे, दूर करे अपराध ।
कहै कबीर वह कब मिले, परम सनेही साध ॥ 572 ॥
साधुन की झुपड़ी भली, न साकट के गाँव ।
चंदन की कुटकी भली, ना बूबल बनराव ॥ 573 ॥
कह अकाश को फेर है, कह धरती को तोल ।
कहा साध की जाति है, कह पारस का मोल ॥ 574 ॥
हयबर गयबर सधन धन, छत्रपति की नारि ।
तासु पटतरा न तुले, हरिजन की परिहारिन ॥ 575 ॥
क्यों नृपनारि निन्दिये, पनिहारी को मान ।
वह माँग सँवारे पीववहित, नित वह सुमिरे राम ॥ 576 ॥
जा सुख को मुनिवर रटैं, सुर नर करैं विलाप ।
जो सुख सहजै पाईया, सन्तों संगति आप ॥ 577 ॥
साधु सिद्ध बहु अन्तरा, साधु मता परचण्ड ।
सिद्ध जु वारे आपको, साधु तारि नौ खण्ड ॥ 578 ॥
कबीर शीतल जल नहीं, हिम न शीतल होय ।
कबीर शीतल सन्त जन, राम सनेही सोय ॥ 579 ॥
आशा वासा सन्त का, ब्रह्मा लखै न वेद ।
षट दर्शन खटपट करै, बिरला पावै भेद ॥ 580 ॥
कोटि-कोटि तीरथ करै, कोटि कोटि करु धाय ।
जब लग साधु न सेवई, तब लग काचा काम ॥ 581 ॥
वेद थके, ब्रह्मा थके, याके सेस महेस ।
गीता हूँ कि गत नहीं, सन्त किया परवेस ॥ 582 ॥
सन्त मिले जानि बीछुरों, बिछुरों यह मम प्रान ।
शब्द सनेही ना मिले, प्राण देह में आन ॥ 583 ॥
साधु ऐसा चाहिए, दुखै दुखावै नाहिं ।
पान फूल छेड़े नहीं, बसै बगीचा माहिं ॥ 584 ॥
साधु कहावन कठिन है, ज्यों खांड़े की धार ।
डगमगाय तो गिर पड़े निहचल उतरे पार ॥ 585 ॥
साधु कहावत कठिन है, लम्बा पेड़ खजूर ।
चढ़े तो चाखै प्रेम रस, गिरै तो चकनाचूर ॥ 586 ॥

साधु चाल जु चालई, साधु की चाल।
बिन साधन तो सुधि नाहिं साधु कहाँ ते होय ॥ 587 ॥
साधु सोई जानिये, चलै साधु की चाल।
परमारथ राता रहै, बोलै बचन रसाल ॥ 588 ॥
साधु भौरा जग कली, निशि दिन फिरै उदास।
टुक-टुक तहाँ विलम्बिया, जहँ शीतल शब्द निवास ॥ 589 ॥
साधू जन सब में रमैं, दुख न काहू देहि।
अपने मत गाड़ा रहै, साधुन का मत येहि ॥ 590 ॥
साधु सती और सूरमा, राखा रहै न ओट।
माथा बाँधि पताक सों, नेजा घालैं चोट ॥ 591
साधु-साधु सब एक है, जस अफीम का खेत।
कोई विवेकी लाल है, और सेत का सेत ॥ 592 ॥
साधु सती औ सिं को, ज्यों लेघन त्यौं शोभ।
सिंह न मारे मेढ़का, साधु न बाँधै लोभ ॥ 593 ॥
साधु तो हीरा भया, न फूटै धन खाय।
न वह बिनभ कुम्भ ज्यों ना वह आवै जाय ॥ 594 ॥
साधू-साधू सबहीं बड़े, अपनी-अपनी ठौर।
शब्द विवेकी पारखी, ते माथे के मौर ॥ 595 ॥
सदा रहे सन्तोष में, धरम आप दृढ़ धार।
आश एक गुरुदेव की, और चित्त विचार ॥ 596 ॥
दुख-सुख एक समान है, हरष शोक नहिं व्याप।
उपकारी निहकामता, उपजै छोह न ताप ॥ 597 ॥
सदा कृपालु दुःख परिहरन, बैर भाव नहिं दोय।
छिमा ज्ञान सत भाखही, सिंह रहित तु होय ॥ 598 ॥
साधु ऐसा चाहिए, जाके ज्ञान विवेक।
बाहर मिलते सों मिलें, अन्तर सबसों एक ॥ 599 ॥
सावधान और शीलता, सदा प्रफुल्लित गात।
निर्विकार गम्भीर मत, धीरज दया बसात ॥ 600 ॥

निबैंरी निहकामता, स्वामी सेती नेह।
विषया सो न्यारा रहे, साधुन का मत येह ॥ 601 ॥
मानपमान न चित धरै, औरन को सनमान।
जो कोठ आशा करै, उपदेशै तेहि ज्ञान ॥ 602 ॥

और देव नहिं चित्त बसै, मन गुरु चरण बसाय ।
स्वल्पाहार भोजन करूँ, तृष्णा दूर पराय ‖ 603 ‖
जौन चाल संसार की जौ साधु को नाहिं ।
डिंभ चाल करनी करे, साधु कहो मत ताहिं ‖ 604 ‖
इन्द्रिय मन निग्रह करन, हिरदा कोमल होय ।
सदा शुद्ध आचरण में, रह विचार में सोय ‖ 605 ‖
शीलवन्त दृढ़ ज्ञान मत, अति उदार चित होय ।
लज्जावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ‖ 606 ‖
कोई आवै भाव ले, कोई अभाव लै आव ।
साधु दोऊ को पोषते, भाव न गिनै अभाव ‖ 607 ‖
सन्त न छाड़ै सन्तता, कोटिक मिलै असंत ।
मलय भुवंगय बेधिया, शीतलता न तजन्त ‖ 608 ‖
कमल पत्र हैं साधु जन, बसैं जगत के माहिं ।
बालक केरि धाय ज्यों, अपना जानत नाहिं ‖ 609 ‖
बहता पानी निरमला, बन्दा गन्दा होय ।
साधू जन रमा भला, दाग न लागै कोय ‖ 610 ‖
बँधा पानी निरमला, जो टूक गहिरा होय ।
साधु जन बैठा भला, जो कुछ साधन होय ‖ 611 ‖
एक छाड़ि पय को गहैं, ज्यों रे गऊ का बच्छ ।
अवगुण छाड़ै गुण गहै, ऐसा साधु लच्छ ‖ 612 ‖
जौन भाव उपर रहै, भितर बसावै सोय ।
भीतर और न बसावई, ऊपर और न होय ‖ 613 ‖
उड़गण और सुधाकरा, बसत नीर के संग ।
यों साधू संसार में, कबीर फड़त न फंद ‖ 614 ‖
तन में शीतल शब्द है, बोले वचन रसाल ।
कहैं कबीर ता साधु को, गंजि सकै न काल ‖ 615 ‖
तूटै बरत आकाश सौं, कौन सकत है झेल ।
साधु सती और सूर का, अनी ऊपर का खेल ‖ 616 ‖
ढोल दमामा गड़झड़ी, सहनाई और तूर ।
तीनों निकसि न बाहुरैं, साधु सती औ सूर ‖ 617 ‖
आज काल के लोग हैं, मिलि कै बिछुरी जाहिं ।
लाहा कारण आपने, सौगन्ध राम कि खाहिं ‖ 618 ‖
जुवा चोरी मुखबिरी, ब्याज बिरानी नारि ।
जो चाहै दीदार को, इतनी वस्तु निवारि ‖ 619 ‖

कबीर मेरा कोइ नहीं, हम काहू के नाहिं ।
पारै पहुँची नाव ज्यों, मिलि कै बिछुरी जाहिं ॥ 620 ॥
सन्त समागम परम सुख, जान अल्प सुख और ।
मान सरोवर हंस है, बगुला ठौरे ठौर ॥ 621 ॥
सन्त मिले सुख ऊपजै दुष्ट मिले दुख होय ।
सेवा कीजै साधु की, जन्म कृतारथ होय ॥ 622 ॥
संगत कीजै साधु की कभी न निष्फल होय ।
लोहा पारस परस ते, सो भी कंचन होय ॥ 623 ॥
मान नहीं अपमान नहीं, ऐसे शीतल सन्त ।
भव सागर से पार हैं, तोरे जम के दन्त ॥ 624 ॥
दया गरीबी बन्दगी, समता शील सुभाव ।
येते लक्षण साधु के, कहैं कबीर सतभाव ॥ 625 ॥
सो दिन गया इकारथे, संगत भई न सन्त ।
ज्ञान बिना पशु जीवना, भक्ति बिना भटकन्त ॥ 626 ॥
आशा तजि माया तजै, मोह तजै अरू मान ।
हरष शोक निन्दा तजै, कहैं कबीर सन्त जान ॥ 627 ॥
आसन तो इकान्त करैं, कामिनी संगत दूर ।
शीतल सन्त शिरोमनी, उनका ऐसा नूर ॥ 628 ॥
यह कलियुग आयो अबै, साधु न जाने कोय ।
कामी क्रोधी मस्खरा, तिनकी पूजा होय ॥ 629 ॥
कुलवन्ता कोटिक मिले, पण्डित कोटि पचीस ।
सुपच भक्त की पनहि में, तुलै न काहू शीश ॥ 630 ॥
साधु दरशन महाफल, कोटि यज्ञ फल लेह ।
इक मन्दिर को का पड़ी, नगर शुद्ध करिलेह ॥ 631 ॥
साधु दरश को जाइये, जेता धरिये पाँय ।
डग-डग पे असमेध जग, है कबीर समुझाय ॥ 632 ॥
सन्त मता गजराज का, चालै बन्धन छोड़ ।
जग कुत्ता पीछे फिरैं, सुनै न वाको सोर ॥ 633 ॥
आज काल दिन पाँच में, बरस पाँच जुग पंच ।
जब तब साधू तारसी, और सकल पर पंच ॥ 634 ॥
साधु ऐसा चाहिए, जहाँ रहै तहँ गैब ।
बानी के बिस्तार में, ताकूँ कोटिक ऐब ॥ 635 ॥
सन्त होत हैं, हेत के, हेतु तहाँ चलि जाय ।
कहैं कबीर के हेत बिन, गरज कहाँ पतियाय ॥ 636 ॥

हेत बिना आवै नहीं, हेत तहाँ चलि जाय ।
कबीर जल और सन्तजन, नवैं तहाँ ठहराय ॥ 637 ॥
साधु-ऐसा चाहिए, जाका पूरा मंग ।
विपत्ति पड़े छाड़ै नहीं, चढ़े चौगुना रंग ॥ 638 ॥
सन्त सेव गुरु बन्दगी, गुरु सुमिरन वैराग ।
ये ता तबही पाइये, पूरन मस्तक भाग ॥ 639 ॥
॥ भेष के विषय मे दोहे ॥
चाल बकुल की चलत हैं, बहुरि कहावै हंस ।
ते मुक्ता कैसे चुंगे, पड़े काल के फंस ॥ 640 ॥
बाना पहिरे सिंह का, चलै भेड़ की चाल ।
बोली बोले सियार की, कुत्ता खवै फाल ॥ 641 ॥
साधु भया तो क्या भया, माला पहिरी चार ।
बाहर भेष बनाइया, भीतर भरी भंगार ॥ 642 ॥
तन को जोगी सब करै, मन को करै न कोय ।
सहजै सब सिधि पाइये, जो मन जोगी होय ॥ 643 ॥
जौ मानुष गृह धर्म युत, राखै शील विचार ।
गुरुमुख बानी साधु संग, मन वच, सेवा सार ॥ 644 ॥
शब्द विचारे पथ चलै, ज्ञान गली दे पाँव ।
क्या रमता क्या बैठता, क्या गृह कंदला छाँव ॥ 645 ॥
गिरही सुवै साधु को, भाव भक्ति आनन्द ।
कहैं कबीर बैरागी को, निरबानी निरदुन्द ॥ 646 ॥
पाँच सात सुमता भरी, गुरु सेवा चित लाय ।
तब गुरु आज्ञा लेय के, रहे देशान्तर जाय ॥ 647 ॥
गुरु के सनमुख जो रहै, सहै कसौटी दुख ।
कहैं कबीर तो दुख पर वारों, कोटिक सूख ॥ 648 ॥
मन मैला तन ऊजरा, बगुला कपटी अंग ।
तासों तो कौवा भला, तन मन एकहि रंग ॥ 649 ॥
भेष देख मत भूलिये, बूझि लीजिये ज्ञान ।
बिना कसौटी होत नहीं, कंचन की पहिचान ॥ 650 ॥
कवि तो कोटि-कोटि हैं, सिर के मुड़े कोट ।
मन के कूड़े देखि करि, ता संग लीजै ओट ॥ 651 ॥
बोली ठोली मस्खरी, हँसी खेल हराम ।
मद माया और इस्तरी, नहिं सन्तन के काम ॥ 652 ॥

फाली फूली गाडरी, ओढ़ि सिंह की खाल ।
साँच सिंह जब आ मिले, गाडर कौन हवाल ॥ 653 ॥
बैरागी बिरकत भला, गिरही चित्त उदार ।
दोऊ चूकि खाली पड़े, ताको वार न पार ॥ 654 ॥
धारा तो दोनों भली, बिरही के बैराग ।
गिरही दासातन करे बैरागी अनुराग ॥ 655 ॥
घर में रहै तो भक्ति करूँ, ना तरू करू बैराग ।
बैरागी बन्ध करै, ताका बड़ा अभाग ॥ 656 ॥

॥ भीख के विषय मे दोहे ॥

उदर समाता माँगि ले, ताको नाहिं दोष ।
कहैं कबीर अधिका गहै, ताकि गति न मोष ॥ 657 ॥
अजहूँ तेरा सब मिटैं, जो मानै गुरु सीख ।
जब लग तू घर में रहै, मति कहुँ माँगे भीख ॥ 658 ॥
माँगन गै सो भर रहै, भरे जु माँगन जाहिं ।
तिनते पहिले वे मरे, होत करत है नाहिं ॥ 659 ॥
माँगन-मरण समान है, तोहि दई मैं सीख ।
कहैं कबीर समझाय के, मति कोई माँगे भीख ॥ 660 ॥
उदर समाता अन्न ले, तनहिं समाता चीर ।
अधिकहिं संग्रह ना करै, तिसका नाम फकीर ॥ 661 ॥
आब गया आदर गया, नैनन गया सनेह ।
यह तीनों तब ही गये, जबहिं कहा कुछ देह ॥ 662 ॥
सहत मिलै सो दूध है, माँगि मिलै सा पानि ।
कहैं कबीर वह रक्त है, जामें एंचातानि ॥ 663 ॥
अनमाँगा उत्तम कहा, मध्यम माँगि जो लेय ।
कहैं कबीर निकृष्टि सो, पर धर धरना देय ॥ 664 ॥
अनमाँगा तो अति भला, माँगि लिया नहिं दोष ।
उदर समाता माँगि ले, निश्च्य पावै योष ॥ 665 ॥

॥ संगति पर दोहे ॥

कबीरा संगत साधु की, नित प्रति कीर्ज जाय ।
दुरमति दूर बहावसी, देशी सुमति बताय ॥ 666 ॥

एक घड़ी आधी घड़ी, आधी में पुनि आध ।
कबीर संगत साधु की, करै कोटि अपराध ॥ 667 ॥
कबिरा संगति साधु की, जो करि जाने कोय ।
सकल बिरछ चन्दन भये, बांस न चन्दन होय ॥ 668 ॥
मन दिया कहुँ और ही, तन साधुन के संग ।
कहैं कबीर कोरी गजी, कैसे लागै रंग ॥ 669 ॥
साधुन के सतसंग से, थर-थर काँपे देह ।
कबहुँ भाव कुभाव ते, जनि मिटि जाय सनेह ॥ 670 ॥
साखी शब्द बहुतै सुना, मिटा न मन का दाग ।
संगति सो सुधरा नहीं, ताका बड़ा अभाग ॥ 671 ॥
साध संग अन्तर पड़े, यह मति कबहु न होय ।
कहैं कबीर तिहु लोक में, सुखी न देखा कोय ॥ 672 ॥
गिरिये परबत सिखर ते, परिये धरिन मंझार ।
मूरख मित्र न कीजिये, बूड़ो काली धार ॥ 673 ॥
संत कबीर गुरु के देश में, बसि जावै जो कोय ।
कागा ते हंसा बनै, जाति बरन कुछ खोय ॥ 674 ॥
भुवंगम बास न बेधई, चन्दन दोष न लाय ।
सब अंग तो विष सों भरा, अमृत कहाँ समाय ॥ 675 ॥
तोहि पीर जो प्रेम की, पाका सेती खेल ।
काची सरसों पेरिकै, खरी भया न तेल ॥ 676 ॥
काचा सेती मति मिलै, पाका सेती बान ।
काचा सेती मिलत ही, है तन धन की हान ॥ 677 ॥
कोयला भी हो ऊजला, जरि बरि है जो सेव ।
मूरख होय न ऊजला, ज्यों कालर का खेत ॥ 678 ॥
मूरख को समुझावते, ज्ञान गाँठि का जाय ।
कोयला होय न ऊजला, सौ मन साबुन लाय ॥ 679 ॥
ज्ञानी को ज्ञानी मिलै, रस की लूटम लूट ।
ज्ञानी को आनी मिलै, हौवै माथा कूट ॥ 680॥
साखी शब्द बहुतक सुना, मिटा न मन क मोह ।
पारस तक पहुँचा नहीं, रहा लोह का लोह ॥ 681 ॥
ब्राह्मण केरी बेटिया, मांस शराब न खाय ।
संगति भई कलाल की, मद बिना रहा न जाए ॥ 682 ॥
जीवन जीवन रात मद, अविचल रहै न कोय ।
जु दिन जाय सत्संग में, जीवन का फल सोय ॥ 683 ॥

दाग जु लागा नील का, सौ मन साबुन धोय ।
कोटि जतन परमोधिये, कागा हंस न होय ॥ 684 ॥
जो छोड़े तो आँधरा, खाये तो मरि जाय ।
ऐसे संग छछून्दरी, दोऊ भाँति पछिताय ॥ 685 ॥
प्रीति कर सुख लेने को, सो सुख गया हिराय ।
जैसे पाइ छछून्दरी, पकड़ि साँप पछिताय ॥ 686 ॥
कबीर विषधर बहु मिले, मणिधर मिला न कोय ।
विषधर को मणिधर मिले, विष तजि अमृत होय ॥ 687 ॥
सज्जन सों सज्जन मिले, होवे दो दो बात ।
गहदा सो गहदा मिले, खावे दो दो लात ॥ 688 ॥
तरुवर जड़ से काटिया, जबै सम्हारो जहाज ।
तारै पर बोरे नहीं, बाँह गहे की लाज ॥ 689 ॥
मैं सोचों हित जानिके, कठिन भयो है काठ ।
ओछी संगत नीच की सरि पर पाड़ी बाट ॥ 690 ॥
लकड़ी जल डूबै नहीं, कहो कहाँ की प्रीति ।
अपनी सीची जानि के, यही बड़ने की रीति ॥ 691 ॥
साधू संगत परिहरै, करै विषय का संग ।
कूप खनी जल बावरे, त्याग दिया जल गंग ॥ 692 ॥
संगति ऐसी कीजिये, सरसा नर सो संग ।
लर-लर लोई हेत है, तऊ न छौड़ रंग ॥ 693 ॥
तेल तिली सौ ऊपजै, सदा तेल को तेल ।
संगति को बेरो भयो, ताते नाम फुलेल ॥ 694 ॥
साधु संग गुरु भक्ति अरू, बढ़त बढ़त बढ़ि जाय ।
ओछी संगत खर शब्द रू, घटत-घटत घटि जाय ॥ 695 ॥
संगत कीजै साधु की, होवे दिन-दिन हेत ।
साकुट काली कामली, धोते होय न सेत ॥ 696 ॥
चर्चा करूँ तब चौहटे, ज्ञान करो तब दोय ।
ध्यान धरो तब एकिला, और न दूजा कोय ॥ 697 ॥
सन्त सुरसरी गंगा जल, आनि पखारा अंग ।
मैले से निरमल भये, साधू जन को संग ॥ 698 ॥

॥ सेवक पर दोहे ॥

सतगुरु शब्द उलंघ के, जो सेवक कहूँ जाय ।
जहाँ जाय तहँ काल है, कहैं कबीर समझाय ॥ 699 ॥

तू तू करूं तो निकट है, दुर-दुर करू हो जाय ।
जों गुरु राखै त्यों रहै, जो देवै सो खाय ॥ 700 ॥

सेवक सेवा में रहै, सेवक कहिये सोय ।
कहैं कबीर सेवा बिना, सेवक कभी न होय ॥ 701 ॥
अनराते सुख सोवना, राते नींद न आय ।
यों जल छूटी माछरी, तलफत रैन बिहाय ॥ 702 ॥
यह मन ताको दीजिये, साँचा सेवक होय ।
सिर ऊपर आरा सहै, तऊ न दूजा होय ॥ 703 ॥
गुरु आज्ञा मानै नहीं, चलै अटपटी चाल ।
लोक वेद दोनों गये, आये सिर पर काल ॥ 704 ॥
आशा करै बैकुण्ठ की, दुरमति तीनों काल ।
शुक्र कही बलि ना करीं, ताते गयो पताल ॥ 705 ॥
द्वार थनी के पड़ि रहे, धका धनी का खाय ।
कबहुक धनी निवाजि है, जो दर छाड़ि न जाय ॥ 706 ॥
उलटे सुलटे बचन के शीष न मानै दुख ।
कहैं कबीर संसार में, सो कहिये गुरुमुख ॥ 707 ॥
कहैं कबीर गुरु प्रेम बस, क्या नियरै क्या दूर ।
जाका चित जासों बसै सौ तेहि सदा हजूर ॥ 708 ॥
गुरु आज्ञा लै आवही, गुरु आज्ञा लै जाय ।
कहैं कबीर सो सन्त प्रिय, बहु विधि अमृत पाय ॥ 709 ॥
गुरुमुख गुरु चितवत रहे, जैसे मणिहि भुजंग ।
कहैं कबीर बिसरे नहीं, यह गुरु मुख के अंग ॥ 710 ॥
यह सब तच्छन चितधरे, अप लच्छन सब त्याग ।
सावधान सम ध्यान है, गुरु चरनन में लाग ॥ 711 ॥
ज्ञानी अभिमानी नहीं, सब काहू सो हेत ।
सत्यवार परमारथी, आदर भाव सहेत ॥ 712 ॥
दया और धरम का ध्वजा, धीरजवान प्रमान ।
सन्तोषी सुख दायका, सेवक परम सुजान ॥ 713 ॥
शीतवन्त सुन ज्ञान मत, अति उदार चित होय ।
लज्जावान अति निछलता, कोमल हिरदा सोय ॥ 714 ॥

॥ दासता पर दोहे ॥

कबीर गुरु कै भावते, दूरहि ते दीसन्त ।
तन छीना मन अनमना, जग से रूठि फिरन्त ॥ 715 ॥
कबीर गुरु सबको चहै, गुरु को चहै न कोय ।
जब लग आश शरीर की, तब लग दास न होय ॥ 716 ॥
सुख दुख सिर ऊपर सहै, कबहु न छोड़े संग ।
रंग न लागै का, व्यापै सतगुरु रंग ॥ 717 ॥
गुरु समरथ सिर पर खड़े, कहा कभी तोहि दास ।
रिद्धि-सिद्धि सेवा करै, मुक्ति न छोड़े पास ॥ 718 ॥
लगा रहै सत ज्ञान सो, सबही बन्धन तोड़ ।
कहैं कबीर वा दास सो, काल रहै हथजोड़ ॥ 719 ॥
काहू को न संतापिये, जो सिर हन्ता होय ।
फिर फिर वाकूं बन्दिये, दास लच्छन है सोय ॥ 720 ॥
दास कहावन कठिन है, मैं दासन का दास ।
अब तो ऐसा होय रहूँ पाँव तले की घास ॥ 721 ॥
दासातन हिरदै बसै, साधुन सो अधीन ।
कहैं कबीर सो दास है, प्रेम भक्ति लवलीन ॥ 722 ॥
दासातन हिरदै नहीं, नाम धरावै दास ।
पानी के पीये बिना, कैसे मिटै पियास ॥ 723 ॥

॥ भक्ति पर दोहे ॥

भक्ति कठिन अति दुर्लभ, भेष सुगम नित सोय ।
भक्ति जु न्यारी भेष से, यह जनै सब कोय ॥ 724 ॥
भक्ति बीज पलटै नहीं जो जुग जाय अनन्त ।
ऊँच-नीच धर अवतरै, होय सन्त का अन्त ॥ 725 ॥
भक्ति भाव भादौं नदी, सबै चली घहराय ।
सरिता सोई सराहिये, जेठ मास ठहराय ॥ 726 ॥
भक्ति जु सीढ़ी मुक्ति की, चढ़े भक्त हरषाय ।
और न कोई चढ़ि सकै, निज मन समझो आय ॥ 727 ॥
भक्ति दुहेली गुरुन की, नहिं कायर का काम ।
सीस उतारे हाथ सों, ताहि मिलै निज धाम ॥ 728 ॥

भक्ति पदारथ तब मिलै, जब गुरु होय सहाय।
प्रेम प्रीति की भक्ति जो, पूरण भाग मिलाय॥ 729॥
भक्ति भेष बहु अन्तरा, जैसे धरनि अकाश।
भक्त लीन गुरु चरण में, भेष जगत की आश॥ 730॥
कबीर गुरु की भक्ति करूँ, तज निषय रस चौंज।
बार-बार नहिं पाइये, मानुष जन्म की मौज॥ 731॥
भक्ति दुवारा साँकरा, राई दशवें भाय।
मन को मैगल होय रहा, कैसे आवै जाय॥ 732॥
भक्ति बिना नहिं निस्तरे, लाख करे जो कोय।
शब्द सनेही होय रहे, घर को पहुँचे सोय॥ 733॥
भक्ति नसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन-जिन आलस किया, जनम जनम पछिताय॥ 734॥
गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खाड़े की धार।
बिना साँच पहुँचे नहीं, महा कठिन व्यवहार॥ 735॥
भाव बिना नहिं भक्ति जग, भक्ति बिना नहीं भाव।
भक्ति भाव इक रूप है, दोऊ एक सुभाव॥ 736॥
कबीर गुरु की भक्ति का, मन में बहुत हुलास।
मन मनसा माजै नहीं, होन चहत है दास॥ 737॥
कबीर गुरु की भक्ति बिन, धिक जीवन संसार।
धुवाँ का सा धौरहरा, बिनसत लगै न बार॥ 738॥
जाति बरन कुल खोय के, भक्ति करै चितलाय।
कहैं कबीर सतगुरु मिलै, आवागमन नशाय॥ 739॥
देखा देखी भक्ति का, कबहुँ न चढ़ सी रंग।
बिपति पड़े यों छाड़सी, केचुलि तजत भुजंग॥ 740॥
आरत है गुरु भक्ति करूँ, सब कारज सिध होय।
करम जाल भौजाल में, भक्त फँसे नहिं कोय॥ 741॥
जब लग भक्ति सकाम है, तब लग निष्फल सेव।
कहैं कबीर वह क्यों मिलै, निहकामी निजदेव॥ 742॥
पेटे में भक्ति करै, ताका नाम सपूत।
मायाधारी मसखरैं, लेते गये अऊत॥ 743॥
निर्पक्षा की भक्ति है, निर्मोही को ज्ञान।
निरद्वंद्वी की भक्ति है, निर्लोभी निर्बान॥ 744॥
तिमिर गया रवि देखते, मुमति गयी गुरु ज्ञान।
सुमति गयी अति लोभ ते, भक्ति गयी अभिमान॥ 745॥

खेत बिगारेउ खरतुआ, सभा बिगारी कूर ।
भक्ति बिगारी लालची, ज्यों केसर में घूर ॥ 746 ॥
ज्ञान सपूरण न भिदा, हिरदा नाहिं जुड़ाय ।
देखा देखी भक्ति का, रंग नहीं ठहराय ॥ 747 ॥
भक्ति पन्थ बहुत कठिन है, रती न चालै खोट ।
निराधार का खोल है, अधर धार की चोट ॥ 748 ॥
भक्तन की यह रीति है, बंधे करे जो भाव ।
परमारथ के कारने यह तन रहो कि जाव ॥ 749 ॥
भक्ति महल बहु ऊँच है, दूरहि ते दरशाय ।
जो कोई जन भक्ति करे, शोभा बरनि न जाय ॥ 750 ॥
और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निहकर्म ।
कहैं कबीर पुकारि के, भक्ति करो तजि भर्म ॥ 751 ॥
विषय त्याग बैराग है, समता कहिये ज्ञान ।
सुखदाई सब जीव सों, यही भक्ति परमान ॥ 752 ॥
भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब आय ।
नीचे बाधिनि लुकि रही, कुचल पड़े कू खाय ॥ 753 ॥
भक्ति भक्ति सब कोइ कहै, भक्ति न जाने मेव ।
पूरण भक्ति जब मिलै, कृपा करे गुरुदेव ॥ 754 ॥
॥ चेतावनी ॥

कबीर गर्ब न कीजिये, चाम लपेटी हाड़ ।
हयबर ऊपर छत्रवट, तो भी देवैं गाड़ ॥ 755 ॥
कबीर गर्ब न कीजिये, ऊँचा देखि अवास ।
काल परौं भुंइ लेटना, ऊपर जमसी घास ॥ 756 ॥
कबीर गर्ब न कीजिये, इस जीवन की आस ।
टेसू फूला दिवस दस, खंखर भया पलास ॥ 757 ॥
कबीर गर्ब न कीजिये, काल गहे कर केस ।
ना जानो कित मारि हैं, कसा घर क्या परदेस ॥ 758 ॥
कबीर मन्दिर लाख का, जाड़िया हीरा लाल ।
दिवस चारि का पेखना, विनशि जायगा काल ॥ 759 ॥
कबीर धूल सकेलि के, पुड़ी जो बाँधी येह ।
दिवस चार का पेखना, अन्त खेह की खेह ॥ 760 ॥
कबीर थोड़ा जीवना, माढ़ै बहुत मढ़ान ।
सबही ऊभ पन्थ सिर, राव रंक सुल्तान ॥ 761 ॥

कबीर नौबत आपनी, दिन दस लेहु बजाय।
यह पुर पट्टन यह गली, बहुरि न देखहु आय ॥ 762 ॥
कबीर गर्ब न कीजिये, जाम लपेटी हाड़।
इस दिन तेरा छत्र सिर, देगा काल उखाड़ ॥ 763 ॥
कबीर यह तन जात है, सकै तो ठोर लगाव।
कै सेवा करूँ साधु की, कै गुरु के गुन गाव ॥ 764 ॥
कबीर जो दिन आज है, सो दिन नहीं काल।
चेति सकै तो चेत ले, मीच परी है ख्याल ॥ 765 ॥
कबीर खेत किसान का, मिरगन खाया झारि।
खेत बिचारा क्या करे, धनी करे नहिं बारि ॥ 766 ॥
कबीर यह संसार है, जैसा सेमल फूल।
दिन दस के व्यवहार में, झूठे रंग न भूल ॥ 767 ॥
कबीर सपनें रैन के, ऊधरी आये नैन।
जीव परा बहू लूट में, जागूँ लेन न देन ॥ 768 ॥
कबीर जन्त्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
जन्त्र बिचारा क्याय करे, गया बजावन हार ॥ 769 ॥
कबीर रसरी पाँव में, कहँ सोवै सुख-चैन।
साँस नगारा कुँच का, बाजत है दिन-रैन ॥ 770 ॥
कबीर नाव तो झाँझरी, भरी बिराने भाए।
केवट सो परचै नहीं, क्यों कर उतरे पाए ॥ 771 ॥
कबीर पाँच पखेरूआ, राखा पोष लगाय।
एक जु आया पारधी, लइ गया सबै उड़ाय ॥ 772 ॥
कबीर बेड़ा जरजरा, कूड़ा खेनहार।
हरूये-हरूये तरि गये, बूड़े जिन सिर भार ॥ 773 ॥
एक दिन ऐसा होयगा, सबसों परै बिछोह।
राजा राना राव एक, सावधान क्यों नहिं होय ॥ 774 ॥
ढोल दमामा दुरबरी, सहनाई संग भेरि।
औसर चले बजाय के, है कोई रखै फेरि ॥ 775 ॥
मरेंगे मरि जायँगे, कोई न लेगा नाम।
ऊजड़ जाय बसायेंगे, छेड़ि बसन्ता गाम ॥ 776 ॥
कबीर पानी हौज की, देखत गया बिलाय।
ऐसे ही जीव जायगा, काल जु पहुँचा आय ॥ 777 ॥
कबीर गाफिल क्या करे, आया काल नजदीक।
कान पकरि के ले चला, ज्यों अजियाहि खटीक ॥ 778 ॥

कै खाना कै सोवना, और न कोई चीत ।
सतगुरु शब्द बिसारिया, आदि अन्त का मीत ॥ 779 ॥
हाड़ जरै जस लाकड़ी, केस जरै ज्यों घास ।
सब जग जरता देखि करि, भये कबीर उदास ॥ 780 ॥
आज काल के बीच में, जंगल होगा वास ।
ऊपर ऊपर हल फिरै, ढोर चरेंगे घास ॥ 781 ॥
ऊजड़ खेड़े टेकरी, धड़ि धड़ि गये कुम्हार ।
रावन जैसा चलि गया, लंका का सरदार ॥ 782 ॥
पाव पलक की सुधि नहीं, करै काल का साज ।
काल अचानक मारसी, ज्यों तीतर को बाज ॥ 783 ॥
आछे दिन पाछे गये, गुरु सों किया न हैत ।
अब पछितावा क्या करे, चिड़िया चुग गई खेत ॥ 784 ॥
आज कहै मैं कल भजूँ, काल फिर काल ।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल ॥ 785 ॥
कहा चुनावै मेड़िया, चूना माटी लाय ।
मीच सुनेगी पापिनी, दौरि के लेगी आय ॥ 786 ॥
सातों शब्द जु बाजते, घर-घर होते राग ।
ते मन्दिर खाले पड़े, बैठने लागे काग ॥ 787 ॥
ऊँचा महल चुनाइया, सुबरदन कली ढुलाय ।
वे मन्दिर खाले पड़े, रहै मसाना जाय ॥ 788 ॥
ऊँचा मन्दिर मेड़िया, चला कली ढुलाय ।
एकहिं गुरु के नाम बिन, जदि तदि परलय जाय ॥ 789 ॥
ऊँचा दीसे धौहरा, भागे चीती पोल ।
एक गुरु के नाम बिन, जम मरेंगे रोज ॥ 790 ॥
पाव पलक तो दूर है, मो पै कहा न जाय ।
ना जानो क्या होयगा, पाव के चौथे भाय ॥ 791 ॥
मौत बिसारी बाहिरा, अचरज कीया कौन ।
मन माटी में मिल गया, ज्यों आटा में लौन ॥ 792 ॥
घर रखवाला बाहिरा, चिड़िया खाई खेत ।
आधा परवा ऊबरे, चेति सके तो चेत ॥ 793 ॥
हाड़ जले लकड़ी जले, जले जलवान हार ।
अजहुँ झोला बहुत है, घर आवै तब जान ॥ 794 ॥
पकी हुई खेती देखि के, गरब किया किसान ।
अजहुँ झोला बहुत है, घर आवै तब जान ॥ 795 ॥

पाँच तत्व का पूतरा, मानुष धरिया नाम ।
दिना चार के कारने, फिर-फिर रोके ठाम ॥ 796 ॥
कहा चुनावै मेड़िया, लम्बी भीत उसारि ।
घर तो साढ़े तीन हाथ, घना तो पौने चारि ॥ 797 ॥
यह तन काँचा कुंभ है, लिया फिरै थे साथ ।
टपका लागा फुटि गया, कछु न आया हाथ ॥ 798 ॥
कहा किया हम आपके, कहा करेंगे जाय ।
इत के भये न ऊत के, चाले मूल गँवाय ॥ 799 ॥
जनमै मरन विचार के, कूरे काम निवारि ।
जिन पंथा तोहि चालना, सोई पंथ सँवारि ॥ 800 ॥

कुल खोये कुल ऊबरै, कुल राखे कुल जाय ।
राम निकुल कुल भेटिया, सब कुल गया बिलाय ॥ 801 ॥
दुनिया के धोखे मुआ, चला कुटुम की कानि ।
तब कुल की क्या लाज है, जब ले धरा मसानि ॥ 802 ॥
दुनिया सेती दोसती, मुआ, होत भजन में भंग ।
एका एकी राम सों, कै साधुन के संग ॥ 803 ॥
यह तन काँचा कुंभ है, यहीं लिया रहिवास ।
कबीरा नैन निहारिया, नाहिं जीवन की आस ॥ 804 ॥
यह तन काँचा कुंभ है, चोट चहूँ दिस खाय ।
एकहिं गुरु के नाम बिन, जदि तदि परलय जाय ॥ 805 ॥
जंगल ढेरी राख की, उपरि उपरि हरियाय ।
ते भी होते मानवी, करते रंग रलियाय ॥ 806 ॥
मलमल खासा पहिनते, खाते नागर पान ।
टेढ़ा होकर चलते, करते बहुत गुमान ॥ 807 ॥
महलन माही पौढ़ते, परिमल अंग लगाय ।
ते सपने दीसे नहीं, देखत गये बिलाय ॥ 808 ॥
ऊजल पीहने कापड़ा, पान-सुपारी खाय ।
कबीर गुरू की भक्ति बिन, बाँधा जमपुर जाय ॥ 809 ॥
कुल करनी के कारने, ढिग ही रहिगो राम ।
कुल काकी लाजि है, जब जमकी धूमधाम ॥ 810 ॥
कुल करनी के कारने, हंसा गया बिगोय ।
तब कुल काको लाजि है, चाकिर पाँव का होय ॥ 811 ॥

मैं मेरी तू जानि करै, मेरी मूल बिनास ।
मेरी पग का पैखड़ा, मेरी गल की फाँस ॥ 812 ॥
ज्यों कोरी रेजा बुनै, नीरा आवै छौर ।
ऐसा लेखा मीच का, दौरि सकै तो दौर ॥ 813 ॥
इत पर धर उत है धरा, बनिजन आये हाथ ।
करम करीना बेचि के, उठि करि चालो काट ॥ 814 ॥
जिसको रहना उतघरा, सो क्यों जोड़े मित्र ।
जैसे पर घर पाहुना, रहै उठाये चित्त ॥ 815 ॥
मेरा संगी कोई नहीं, सबै स्वारथी लोय ।
मन परतीत न ऊपजै, जिय विस्वाय न होय ॥ 816 ॥
मैं भौंरो तोहि बरजिया, बन बन बास न लेय ।
अटकेगा कहुँ बेलि में, तड़फि- तड़फि जिय देय ॥ 817 ॥
दीन गँवायो दूनि संग, दुनी न चली साथ ।
पाँच कुल्हाड़ी मारिया, मूरख अपने हाथ ॥ 818 ॥
तू मति जानै बावरे, मेरा है यह कोय ।
प्रान पिण्ड सो बँधि रहा, सो नहिं अपना होय ॥ 819 ॥
या मन गहि जो थिर रहै, गहरी धूनी गाड़ि ।
चलती बिरयाँ उठि चला, हस्ती घोड़ा छाड़ि ॥ 820 ॥
तन सराय मन पाहरू, मनसा उतरी आय ।
कोई काहू का है नहीं, देखा ठोंकि बजाय ॥ 821 ॥
डर करनी डर परम गुरु, डर पारस डर सार ।
डरत रहै सो ऊबरे, गाफिल खाई मार ॥ 822 ॥
भय से भक्ति करै सबै, भय से पूजा होय ।
भय पारस है जीव को, निरभय होय न कोय ॥ 823 ॥
भय बिन भाव न ऊपजै, भय बिन होय न प्रीति ।
जब हिरदै से भय गया, मिटी सकल रस रीति ॥ 824 ॥
काल चक्र चक्की चलै, बहुत दिवस औ रात ।
सुगन अगुन दोउ पाटला, तामें जीव पिसात ॥ 825 ॥
बारी-बारी आपने, चले पियारे मीत ।
तेरी बारी जीयरा, नियरे आवै नीत ॥ 826 ॥
एक दिन ऐसा होयगा, कोय काहु का नाहिं ।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं ॥ 827 ॥
बैल गढ़न्ता नर, चूका सींग रू पूँछ ।
एकहिं गुरुँ के ज्ञान बिनु, धिक दाढ़ी धिक मूँछ ॥ 828 ॥

यह बिरियाँ तो फिर नहीं, मनमें देख विचार ।
आया लाभहिं कारनै, जनम जुवा मति हार ॥ 829 ॥
खलक मिला खाली हुआ, बहुत किया बकवाद ।
बाँझ हिलावै पालना, तामैं कौन सवाद ॥ 830 ॥
चले गये सो ना मिले, किसको पूछूँ जात ।
मात-पिता-सुत बान्धवा, झूठा सब संघात ॥ 831 ॥
विषय वासना उरझिकर जनम गँवाय जाद ।
अब पछितावा क्या करे, निज करनी कर याद ॥ 832 ॥
हे मतिहीनी माछीरी! राखि न सकी शरीर ।
सो सरवर सेवा नहीं , जाल काल नहिं कीर ॥ 833 ॥
मछरी यह छोड़ी नहीं, धीमर तेरो काल ।
जिहि जिहि डाबर धर करो, तहँ तहँ मेले जाल ॥ 834 ॥
परदा रहती पदुमिनी, करती कुल की कान ।
घड़ी जु पहुँची काल की, छोड़ भई मैदान ॥ 835 ॥
जागो लोगों मत सुवो, ना करूँ नींद से प्यार ।
जैसा सपना रैन का, ऐसा यह संसार ॥ 836 ॥
क्या करिये क्या जोड़िये, तोड़े जीवन काज ।
छाड़ि छाड़ि सब जात है, देह गेह धन राज ॥ 837 ॥
जिन घर नौबत बाजती, होत छतीसों राग ।
सो घर भी खाली पड़े, बैठने लागे काग ॥ 838 ॥
कबीर काया पाहुनी, हंस बटाऊ माहिं ।
ना जानूं कब जायगा, मोहि भरोसा नाहिं ॥ 839 ॥
जो तू परा है फंद में निकसेगा कब अंध ।
माया मद तोकूँ चढ़ा, मत भूले मतिमंद ॥ 840 ॥
अहिरन की चोरी करै, करै सुई का दान ।
ऊँचा चढ़ि कर देखता, केतिक दुरि विमान ॥ 841 ॥
नर नारायन रूप है, तू मति समझे देह ।
जो समझै तो समझ ले, खलक पलक में खोह ॥ 842 ॥
मन मुवा माया मुई, संशय मुवा शरीर ।
अविनाशी जो न मरे, तो क्यों मरे कबीर ॥ 843 ॥
मरूँ- मरूँ सब कोइ कहै, मेरी मरै बलाय ।
मरना था तो मरि चुका, अब को मरने जाय ॥ 844 ॥
एक बून्द के कारने, रोता सब संसार ।
अनेक बून्द खाली गये, तिनका नहीं विचार ॥ 845 ॥

समुझाये समुझे नहीं, धरे बहुत अभिमान ।
गुरु का शब्द उछेद है, कहत सकल हम जान ‖ 846 ‖
राज पाट धन पायके, क्यों करता अभिमान ।
पड़ोसी की जो दशा, भई सो अपनी जान ‖ 847 ‖
मूरख शब्द न मानई, धर्म न सुनै विचार ।
सत्य शब्द नहिं खोजई, जावै जम के द्वार ‖ 848 ‖
चेत सवेरे बाचरे, फिर पाछे पछिताय ।
तोको जाना दूर है, कहैं कबीर बुझाय ‖ 849 ‖
क्यों खोवे नरतन वृथा, परि विषयन के साथ ।
पाँच कुल्हाड़ी मारही, मूरख अपने हाथ ‖ 850 ‖
आँखि न देखे बावरा, शब्द सुनै नहिं कान ।
सिर के केस उज्ज्वल भये, अबहु निपट अजान ‖ 851 ‖
ज्ञानी होय सो मानही, बूझै शब्द हमार ।
कहैं कबीर सो बाँचि है, और सकल जमधार ‖ 852 ‖

‖ काल के विषय मे दोहे ‖

जोबन मिकदारी तजी, चली निशान बजाय ।
सिर पर सेत सिरायचा दिया बुढ़ापै आय ‖ 853 ‖
कबीर टुक-टुक चोंगता, पल-पल गयी बिहाय ।
जिव जंजाले पड़ि रहा, दियरा दममा आय ‖ 854 ‖
झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मन मोद ।
जगत् चबैना काल का, कछु मूठी कछु गोद ‖ 855 ‖
काल जीव को ग्रासई, बहुत कह्यो समुझाय ।
कहैं कबीर में क्या करूँ, कोई नहीं पतियाय ‖ 856 ‖
निश्चय काल गरासही, बहुत कहा समुझाय ।
कहैं कबीर मैं का कहूँ, देखत न पतियाय ‖ 857 ‖
जो उगै तो आथवै, फूलै सो कुम्हिलाय ।
जो चुने सो ढ़हि पड़ै, जनमें सो मरि जाय ‖ 858 ‖
कुशल-कुशल जो पूछता, जग में रहा न कोय ।
जरा मुई न भय मुवा, कुशल कहाँ ते होय ‖ 859 ‖
जरा श्वान जोबन ससा, काल अहेरी नित्त ।
दो बैरी बिच झोंपड़ा कुशल कहाँ सो मित्र ‖ 860 ‖

बिरिया बीती बल घटा, केश पलटि भये और ।
बिगरा काज सँभारि ले, करि छूटने की ठौर ॥ 861 ॥
यह जीव आया दूर ते, जाना है बहु दूर ।
बिच के बासे बसि गया, काल रहा सिर पूर ॥ 862 ॥
कबीर गाफिल क्यों फिरै क्या सोता घनघोर ।
तेरे सिराने जम खड़ा, ज्यूँ अँधियारे चोर ॥ 863 ॥
कबीर पगरा दूर है, बीच पड़ी है रात ।
न जानों क्या होयेगा, ऊगन्ता परभात ॥ 864 ॥
कबीर मन्दिर आपने, नित उठि करता आल ।
मरहट देखी डरपता, चौडढ़े दीया डाल ॥ 865 ॥
धरती करते एक पग, समुंद्र करते फाल ।
हाथों परबत लौलते, ते भी खाये काल ॥ 866 ॥
आस पास जोधा खड़े, सबै बजावै गाल ।
मंझ महल से ले चला, ऐसा परबल काल ॥ 867 ॥
चहुँ दिसि पाका कोट था, मन्दिर नगर मझार ।
खिरकी खिरकी पाहरू, गज बन्दा दरबार ॥
चहुँ दिसि ठाढ़े सूरमा, हाथ लिये हाथियार ।
सबही यह तन देखता, काल ले गया मात ॥ 868 ॥
हम जाने थे खायेंगे, बहुत जिमि बहु माल ।
ज्यों का त्यों ही रहि गया, पकरि ले गया काल ॥ 869 ॥
काची काया मन अथिर, थिर थिर कर्म करन्त ।
ज्यों-ज्यों नर निधड़क फिरै, त्यों-त्यों काल हसन्त ॥ 870 ॥
हाथी परबत फाड़ते, समुन्दर छूट भराय ।
ते मुनिवर धरती गले, का कोई गरब कराय ॥ 871 ॥
संसै काल शरीर में, विषम काल है दूर ।
जाको कोई जाने नहीं, जारि करै सब धूर ॥ 872 ॥
बालपना भोले गया, और जुवा महमंत ।
वृद्धपने आलस गयो, चला जरन्ते अन्त ॥ 873 ॥
बेटा जाये क्या हुआ, कहा बजावै थाल ।
आवन-जावन होय रहा, ज्यों कीड़ी का नाल ॥ 874 ॥

ताजी छूटा शहर ते, कसबे पड़ी पुकार ।
दरवाजा जड़ा ही रहा, निकस गया असवार ॥ 875 ॥

खुलि खेलो संसार में, बाँधि न सक्कै कोय ।
घाट जगाती क्या करै, सिर पर पोट न होय ॥ 876 ॥
घाट जगाती धर्मराय, गुरुमुख ले पहिचान ।
छाप बिना गुरु नाम के, साकट रहा निदान ॥ 877 ॥
संसै काल शरीर में, जारि करै सब धूरि ।
काल से बांचे दास जन जिन पै द्दाल हुजूर ॥ 878 ॥
ऐसे साँच न मानई, तिलकी देखो जाय ।
जारि बारि कोयला करे, जमते देखा सोय ॥ 879 ॥
जारि बारि मिस्सी करे, मिस्सी करि है छार ।
कहैं कबीर कोइला करै, फिर दै दै औतार ॥ 880 ॥
काल पाय जब ऊपजो, काल पाय सब जाय ।
काल पाय सबि बिनिश है, काल काल कहँ खाय ॥ 881 ॥
पात झरन्ता देखि के, हँसती कूपलियाँ ।
हम चाले तु मचालिहौं, धीरी बापलियाँ ॥ 882 ॥
फागुन आवत देखि के, मन झूरे बनराय ।
जिन डाली हम केलि, सो ही ब्योरे जाय ॥ 883 ॥
मूस्या डरपैं काल सों, कठिन काल को जोर ।
स्वर्ग भूमि पाताल में जहाँ जावँ तहँ गोर ॥ 884 ॥
सब जग डरपै काल सों, ब्रह्मा, विष्णु महेश ।
सुर नर मुनि औ लोक सब, सात रसातल सेस ॥ 885॥
कबीरा पगरा दूरि है, आय पहुँची साँझ ।
जन-जन को मन राखता, वेश्या रहि गयी बाँझ ॥ 886 ॥
जाय झरोखे सोवता, फूलन सेज बिछाय ।
सो अब कहँ दीसै नहीं, छिन में गयो बोलाय ॥ 887 ॥
काल फिरे सिर ऊपरै, हाथों धरी कमान ।
कहैं कबीर गहु ज्ञान को, छोड़ सकल अभिमान ॥ 888 ॥
काल काल सब कोई कहै, काल न चीन्है कोय ।
जेती मन की कल्पना, काल कहवै सोय ॥ 889 ॥

॥ उपदेश ॥

काल काम तत्काल है, बुरा न कीजै कोय ।
भले भलई पे लहै, बुरे बुराई होय ॥ 890 ॥
काल काम तत्काल है, बुरा न कीजै कोय ।
अनबोवे लुनता नहीं, बोवे लुनता होय ॥ 891 ॥

लेना है सो जल्द ले, कही सुनी मान ।
कहीं सुनी जुग जुग चली, आवागमन बँधान ॥ 892 ॥
खाय-पकाय लुटाय के, करि ले अपना काम ।
चलती बिरिया रे नरा, संग न चले छदाम ॥ 893 ॥
खाय-पकाय लुटाय के, यह मनुवा मिजमान ।
लेना होय सो लेई ले, यही गोय मैदान ॥ 894 ॥
गाँठि होय सो हाथ कर, हाथ होय सी देह ।
आगे हाट न बानिया, लेना होय सो लेह ॥ 895 ॥
देह खेह खोय जायगी, कौन कहेगा देह ।
निश्चय कर उपकार ही, जीवन का फल येह ॥ 896 ॥
कहै कबीर देय तू, सब लग तेरी देह ।
देह खेह होय जायगी, कौन कहेगा देह ॥ 897 ॥
देह धरे का गुन यही, देह देह कछु देह ।
बहुरि न देही पाइये, अकी देह सुदेह ॥ 898 ॥
सह ही में सत बाटई, रोटी में ते टूक ।
कहैं कबीर ता दास को, कबहुँ न आवे चूक ॥ 899 ॥
कहते तो कहि जान दे, गुरु की सीख तु लेय ।
साकट जन औ श्वान को, फेरि जवाब न देय ॥ 900 ॥
हस्ती चढ़िये ज्ञान की, सहज दुलीचा डार ।
श्वान रूप संसार है, भूकन दे झक मार ॥ 901 ॥
या दुनिया दो रोज की, मत कर या सो हेत ।
गुरु चरनन चित लाइये, जो पूरन सुख हेत ॥ 902 ॥
कबीर यह तन जात है, सको तो राखु बहोर ।
खाली हाथों वह गये, जिनके लाख करोर ॥ 903 ॥
सरगुन की सेवा करो, निरगुन का करो ज्ञान ।
निरगुन सरगुन के परे, तहीं हमारा ध्यान ॥ 904 ॥
घन गरजै, दामिनि दमकै, बूँदैं बरसैं, झर लाग गए।
हर तलाब में कमल खिले, तहाँ भानु परगट भये॥ 905 ॥
क्या काशी क्या ऊसर मगहर, राम हृदय बस मोरा।
जो कासी तन तजै कबीरा, रामे कौन निहोरा ॥ 906 ॥